हिंदी-साहित्य की कुछ चुनी हुई पुस्तकें

विश्व-साहित्य	१॥), २)	नवरस	॥)
हिंदी-नवरत्न	४॥)	साहित्यालोचन	२), ३)
देव और बिहारी	१॥), २।)	भाषा-विज्ञान	३)
भवभूति	॥=), १=)	हिंदी-भाषा का विकास	॥=)
पूर्ण-संग्रह	१॥), २।)	बिहारी-रत्नाकर	५)
हिंदी-साहित्य-विमर्श	१)	मतिराम-ग्रंथावली	२॥)
हिंदी-निबंध-माला (२ भाग)	२)	आदर्शनिबंध-माला	१॥)
निबंधमालादर्श	॥=)	प्रबंध-रचना-शैली	॥=)
प्रबंध-पारिजात	॥=)	कालिदास और भवभूति	१॥)
साहित्य-मीमांसा	१॥)	रामचरितमानस की भूमिका	२॥), ३), ३।)
साहित्य-परिचय	१), ।—)	हिंदी-मेघदूत-विमर्श	२)
प्राचीन-साहित्य	॥=)	मेघदूत-विमर्श	२॥)
कालिदास और शेक्सपियर	२)		

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता —

संचालक-गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय,

२९-३०, अमीनाबाद पार्क,

लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का छप्पनवाँ पुष्प

निबंध-निचय

[चुने हुए साहित्यिक निबंध]

लेखक
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी



प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १।।।)]　　१९८२　　[सादी १।)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ



मुद्रक
श्रीरामकिशोर गुप्त
साहित्य-प्रेस
चिरगाँव (झाँसी)

वक्तव्य

पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और ब्रजभाषा के सुकवि हैं। समय-समय पर आपके लेख भिन्न भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। 'भारत-मित्र' पत्र से आपका विशेष संबंध था, और उसमें हास्य-विनोद-पूर्ण लेख आप प्रायः लिखा करते थे। आप बँगला-भाषा के भी अच्छे विद्वान् हैं, और उक्त भाषा की कुछ पुस्तकों का सुंदर अनुवाद भी आपने किया है। चतुर्वेदीजी 'समालोचक' भी हैं। आपको ब्रजभाषा की कविता से बड़ा प्रेम है। हिंदी साहित्य सम्मेलन पर आपकी पूर्ण कृपा रहती है। एक बार लाहौर में आप उसके सभापति भी हो चुके हैं। आपकी मौलिक पुस्तकें भी छपी हैं। चतुर्वेदीजी हास्य-रस में धाराप्रवाह लेख बड़ी सफलता के साथ लिखते हैं। सच तो यह है कि आप मूर्तिमान् हास्य-रस हैं। आपका स्वभाव बड़ा ही सौम्य है। आप सहृदय, मिष्टभाषी और मिलनसार पुरुष हैं। बंगाल में हिंदी का प्रचार करने में आपने बड़ा उत्साह दिखलाया है। हिंदी-सेवा के लिये ईश्वर आपको चिरजीवी करे।

प्रस्तुत पुस्तक—'निबंध निचय'—में पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी के सात निबंधों का संग्रह है। पहला निबंध सब से छोटा, केवल ४ पृष्ठ का, है, और अंतिम सब से बड़ा, ८८ पृष्ठ का। पहला प्रयाग के 'अभ्युदय' पत्र में प्रकाशित हो चुका है, तथा अंतिम आपका वह अभिभाषण है, जो आपने बिहार के प्रादेशिक साहित्य सम्मेलन के मंच पर—सभापति की हैसियत से—दिया था। शेष पाँच निबंध क्रम से प्रयाग, जबलपुर, इंदौर और बंबई

में होने वाले साहित्य-सम्मेलनों के अधिवेशनों में पढ़े गए थे। इन निबंधों में संवत् १९६८ के पहले का कोई निबंध नहीं है। 'निबंध-निचय' में संगृहीत निबंधों में हिंदी के व्याकरण और ब्रजभाषा-कविता के सौंदर्य पर खासा प्रकाश डाला गया है। चतुर्वेदीजी ने 'अनुप्रास का अन्वेषण' शीर्षक एक निबंध साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा था। लोगों ने उसे बहुत पसंद किया था। यहाँ तक कि वह कई परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी आ गया था। उक्त निबंध भी प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत है।

अँगरेजी-साहित्य में प्रसिद्ध लेखकों के छोटे-छोटे निबंधों का बड़ा आदर किया जाता है। कभी-कभी तो बड़ी रचनाओं से भी लोग निबंधों को अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि अँगरेजी का निबंध-साहित्य खूब उन्नत और परिपुष्ट है। हिंदी में अभी निबंधों का पर्याप्त आदर नहीं है। फिर भी लोक-रुचि का झुकाव अब निबंध-साहित्य की ओर भी हो रहा है, और हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों की निबंधावलियाँ क्रमशः निकल रही हैं। यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। हम भी इस 'निबंध-निचय' को इसी उद्देश्य से निकाल रहे हैं कि हिंदी के निबंध-साहित्य की उन्नति हो, और इस प्रकार के साहित्य-निर्माण में प० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने जो-कुछ काम किया है, वह सुरक्षित रहे। साथ ही यह भी कि वर्तमान तथा भविष्य-काल के लेखकों को उससे शिक्षा और प्रोत्साहन मिले। यदि अपने इस उद्देश्य में आंशिक रूप से भी सफल हो सके, तो हम निबंध-साहित्य को और भी अधिक परिमाण में प्रकाशित करने का उद्योग करेंगे। आशा है, हिंदी-साहित्य-संसार 'निबंध-निचय' को अपनाकर साहित्य-सेवा के मार्ग में और भी द्रुत गति से अग्रसर होने का हमें अवसर देगा। तथास्तु।

निबंध-निचय

—❀—

विचारणीय विषय❀

इस शीर्षक का एक लेख गत ज्येष्ठ शुक्ल १२ के "अभ्युदय" में 'एक हिंदी-प्रेमी' के नाम से निकला है। सारदा बाबू की तरह 'प्रेमी' महाशय भी हिंदी-भाषा के विभक्ति-प्रयोग और लिंग-भेद को दूरीकृत करने के परमाभिलाषी मालूम होते हैं। आप लोगों की धारणा है कि हिंदी-भाषा में यही बड़ा भारी काठिन्य है। यही काठिन्य हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने में बाधा डालता है। इसके कारण इतर भाषा-भाषी ही नहीं हिंदी-भाषा-भाषी भी निन्नानवे के फेर में पड़े हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिये प्रेमीजी ने हिंदी के पत्र-संपादकों और लेखकों की रचनाओं से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं, जिनमें लिंगों की गड़बड़ के सिवा 'ने' विभक्ति की भी खूब ही छीछालेदर हुई है। इन्हीं वाक्यों की दुहाई देकर आप हिंदी को इस दोष से मुक्त करने की सलाह देते हैं।

परंतु अफ़सोस है, आपकी इस सुंदर संमति को मानने के लिये मैं प्रस्तुत नहीं हूँ। हिंदी अति सरल भाषा है। उसमें कठिनता की

❀ आषाढ़-शुक्ल ३, सं० १९७८ के अभ्युदय में प्रकाशित।

गध तक नहीं है। जो उसमें कठिनता बतलाते हैं, वे भूलते हैं। वे रस्सी को सर्प समझते हैं। संसार का कोई भी काम बिना सीखे नहीं आता। सुशिक्षा की हर जगह जरूरत है। हिंदी मे सुशिक्षा का अभाव है। इसी से उसमें विभक्ति-प्रयोग और लिंग-भेद की कठिनता दिखलाई देती है। सुशिक्षा होने से वह आप ही दूर हो जायगी। यह कहना सरासर भूल है कि हिंदी-भाषा-भाषी भी लिंग-भेद के कारण निन्नानवे के फेर में पडते हैं। हिंदी जिनकी भाषा है, अथवा जिन्होंने हिंदी की शिक्षा पायी है, वे कभी फेर में नहीं पडते हैं। फेर में वे ही पडते हैं, जिनकी भाषा न तो हिंदी है और न हिंदी सीखने की जिन्होंने कभी चेष्टा की है। दुर्भाग्य-वश आजकल हिंदी में ऐसे ही लेखकों और संपादकों की संख्या अधिक है। इसी से प्रेमीजी को रचना-वैचित्र्य दिखाने का अवसर मिल गया है। हिंदी का कोई धनी-धोरी तो है नहीं। बस, जिसके मन में आता है वही संपादक और सुलेखक बन जाता है। कोई तो अँगरेजी के साँचे में हिंदी को ढालता है, और कोई उर्दू या संस्कृत के। बस, इसी से यह सारा गडबडाध्याय है। जिन्होंने हिंदी पढ़ी है, और उसकी बारीकियों को समझा है, अथवा जो हिंदी जाननेवालों की संगति में रहे हैं, वे ऐसी गडबड नहीं करते। उनकी हिंदी ठीक वैसी ही होती है, जैसी हिंदी-भाषा-भाषियों की।

हिंदी के लिंग-भेद-संबधी कठिनाइयों को दूर करने के बदले उसकी सुशिक्षा का प्रबंध करना चाहिए। शिक्षा के प्रताप से भारतवासी अँगरेजी-जैसी दुरूह भाषा सीखकर जब अँगरेजों के भी कान काटते हैं, तो हिंदी उनके लिये क्या चीज है। शिक्षा का

प्रबंध होने से हिंदी तो अनायास आ जायगी। मेरी राय में एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके सभासद् हिंदी के दो-चार मर्मज्ञ विद्वान् हों। इसका काम वर्ष में एक या दो बार हिंदी के परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रशंसापत्र देना हो। जिसके पास इस समिति का प्रशंसापत्र हो, वही हिंदी का वास्तविक विद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण लोगों में से पत्र-संपादक भी नियुक्त हुआ करें। यह नियम हो जाने से हिंदी की लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है, वह न रहेगा। हमें आलस्य त्याग कर उद्योग करना चाहिए। हिंदी का अंगच्छेद करने के बदले उसकी शिक्षा का प्रबंध करना ही अधिक समीचीन है।

एक बात और कह कर इस लेख को समाप्त करता हूँ। प्रेमी-जी कहते हैं—"बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी पुस्तकों में "कृपा किया", "आज्ञा दिया" आदि वाक्य लिखे हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट भी ऐसा ही करते हैं।"

हरिश्चंद्रजी ने ऐसा लिखा या नहीं, इसमें संदेह है। उनके विषय में मैं कुछ कह भी नहीं सकता, क्योंकि अब वह नहीं हैं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि उनके इन प्रयोगों का अनुकरण न करना चाहिए। रही श्रद्धेय भट्टजी की बात, वह हमारे पूज्य और भक्ति-भाजन हैं। उनके प्रयोगों को अशुद्ध बताना धृष्टता होगी। किंतु आश्चर्य इस बात का अवश्य है कि वह ऐसा क्यों करते हैं। कभी-कभी अभ्यास-दोष से भी ऐसी भूलें हो जाया करती हैं। जो हो, मेरी आंतरिक इच्छा यही है कि ऐसे प्रयोग इन वृद्ध विद्वानों तक ही रहें, आगे न बढ़ने पावें।

आत्मा, बूँद और रामायण को पुल्लिग लिखना प्रचलित हिंदी के बिलकुल विरुद्ध है। आत्मा सस्कृत मे पुल्लिंग अवश्य है, परतु हिदी में वह बहुत दिनों से स्त्री-लिग है। स्वामी दादूदयालजी अपनी विनती में कहते हैं—

"तन मन निर्मल आत्मा, सब काहू की होय,
दादू विषय विकार की, बात न बूझै कोय।"

'समझना' क्रिया सकर्मक और अकर्मक, दानों है। दौडना और रोना अकर्मक हैं, परतु "दौड दौडी" और "रोना रोया" मे उनका प्रयोग सकर्मक-सा हुआ है। ये सब मजाक की बातें नहीं हैं, व्याकरण की बारीकियाँ हैं।

हिंदी की वर्तमान अवस्था *

वर्तमान हिंदी व्रजभाषा का रूपांतर है। व्रजभाषा-रूप में इसके पद्य-भाग की उन्नति हुई थी, और अब गद्य की हो रही है। उस समय गद्य लिखने की परिपाटी प्राय नहीं के बराबर थी। जिसे जो कुछ लिखना होता, वह पद्य में ही लिखता। यही बात संस्कृत में भी थी। पद्य की चाल यहाँ तक बढ़ी कि कोष, ज्योतिष और वैद्यक-जैसे शुष्क एवं नीरस विषयों की रचना भी पद्य में हो गई। पर अब हवा बदल गई है। लोगों का ध्यान अब गद्य की ओर गया है। अस्तु, गद्य लिखने की ही चाल अधिक है। आशा है, थोड़े दिनों में इसकी अच्छी उन्नति हो जायगी।

आजकल की हिंदी के आदि लेखक कविवर लल्लूलालजी हैं। उन्होंने 'प्रेमसागर' नाम की पुस्तक लिखकर हिन्दी-गद्य की नींव डाली है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह ने "शकुन्तला" का हिंदी में गद्य-पद्य-मय अनुवाद किया। उस समय तक इस नयी हिंदी का प्रचार अच्छी तरह नहीं हुआ था। पीछे स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म हुआ। आपके समय में इसका अधिक प्रचार हुआ। आपने मानों इसमें जान डाल दी। आजकल जिस हिंदी में हम लिखते-पढ़ते हैं, तथा समाचारपत्र निकलते और पुस्तकें बनती हैं, वह भारतेंदुजी की ही चलाई है। यदि भारतेंदु

---

* संवत् १९६८ में प्रयाग के द्वितीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया।

बाबू हरिश्चंद्र का जन्म न होता, तो हिंदी जहाँ-की-तहाँ विलीन हो जाती, और आज मुझे इसकी वर्तमान अवस्था पर निबंध लिखने का अवसर न मिलता।

लल्लूलालजी ने हिंदी का जो नया मार्ग निकाला था, उसे राजा लक्ष्मणसिंह ने साफ़-सुथरा किया, और भारतेंदु स्वय उस पर चले, तथा औरों को भी उन्होंने अपना साथी बनाया। यों कहिए कि लल्लूलाल ने हिंदी की मूर्त्ति गढ़ी, राजा लक्ष्मणसिंह ने उसे खराद पर चढ़ाया, और भारतेंदु ने उसमें केवल प्राणसचार ही नही किया, प्रत्युत उसे वस्त्रालकार से भूषित भी किया। इसी से भारतेंदुजी वर्तमान हिंदी-साहित्य के जन्मदाता कहे जाते हैं।

अस्तु, हिंदी की दो अवस्थाएँ हैं—बाहरी और भीतरी।

बाहरी अवस्था

बाहरी अवस्था तो सतोषजनक है। इसका प्रचार इस समय देशव्यापी हो रहा है। हलक से बोलनेवाले अरब, चीं-चीं करनेवाले चीनी, विचित्र बोली बोलनेवाले मद्रासी और अजीब लहजावाले पजाबी, वे सब हिंदी ही में अपने-अपने मन का भाव प्रकट करते हैं। बंगाल में भी हिंदी का प्रचार बढता जाता है। वहाँ के नाटककार तथा उपन्यास-लेखक अपनी-अपनी पुस्तकों मे चाहे जिस कारण से हो, हिंदी को बहुधा स्थान देते हैं। इस काम में वे हिंदी-भाषा-भाषियों से सहायता नही लेते। वे स्वय हिंदी लिखकर प्रसन्न होते, कहते हैं कि "आमी बेश हिंदी लिखी" अर्थात् मैं अच्छी हिंदी लिखता हूँ। वे गद्य ही नहीं, पद्य भी लिखते हैं। नमूने के लिये एक गीत नीचे उद्धृत किए देता हूँ। यह ऐसे-वैसे आदमी का नही,

बगाल के "नटकुल-चूडामणि" स्वय बाबू गिरीशचंद्र घोष का बनाया है। वह गीत सुनिए—

"राम रहीम ना जूदा करो,
दिल को साँचा राखो जी,
हाँ जि, हाँ जि करते रहो,
दुनियादारी देखो जी।
जब येसा तब तेमा होये,
सदा मगन मे रहेना जी,
मट्टि मे ईया बदन घलि हाय,
ईयाद हर दम राखना जी।
जब तक सेको फरक रहो भाई,
इस इस काम में माना जी,
केया जाने कब दम छुटेगा,
उसका नेहि ठिकाना जी।
दुशमन तेरा साथ फिरता,
देखो भाई, सब उसको जी,
दुशमन से बाँचाने उथाले,
उन बिन हाय नेई कोईजी॥"

(आबू हुसैन)

यह तो हुआ पद्य। अब जरा गद्य की भी चाशनी देख लीजिए। सरकस के विज्ञापनों मे वह लिखते हैं—"नामजादा पालवान घोंडा का पीठ मे नई-नई तमाशा और खेल दिखायेंगे इत्यादि।" वह शुद्ध हिंदी लिखते हैं या अशुद्ध, यह दिखाने का मेरा उद्देश्य यहाँ नहीं है। मेरा कहना केवल यही है कि ये हिंदी लिखते हैं, और हिंदी का

उनमे प्रचार है,—अशुद्ध ही सही, लेकिन लिखते तो हैं। भगवान चाहेगा, तो पीछे शुद्ध भी लिखने लगेंगे। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि बगाली लोग अपनी पुस्तकों में पजाबी, गुजराती, तेलगू आदि भाषाओं को स्थान न देकर हिंदी को ही क्यों देते हैं? इसका कारण यह है कि हिंदी सरल भाषा है। इसे अनायास सीखकर लोग अपना काम निकाल लेते हैं। और भाषाओं में यह बात नहीं है। इसके सिवा इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे हिंदी को ही शायद राष्ट्रभाषा होने के योग्य समझते हैं, क्योंकि अधिकाश भारतवासी ऐसा ही समझते हैं, और उसके लिये चेष्टा भी कर रहे हैं।

प्रत्येक प्रात के विद्वान् इसकी उपयोगिता स्वीकार कर चुके और कर रहे हैं। ईसवी सन् १९०९ में बडोदे में हिंदीपरिषद् हुई थी। उसमें भी सबने एक स्वर से हिंदी को ही राष्ट्रभाषा माना था। स्वर्गीय रमेशचद्र दत्त ने वहाँ अपने भाषण मे कहा था—

"If there is a language, which will be accepted in a larger part of India, it is Hindi"

अर्थात यदि ऐसी कोई भाषा है, जो भारत के अधिकाश भाग मे स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदी है। हिंदीपरिषद् के सभापति बंबई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर भण्डारकर ने भी कहा था—

"The honour of being made the common language for inter-communication between various provinces must be given to Hindi There does not seem to be much difficulty to make Hindi accepted by all throughout India"

अर्थात्, "भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों को आपस में बातचीत करने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य ही मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने में मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।"

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश (चीफ़ जस्टिस) राव बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम ए, एल एल बी, ने कहा—

Hindi is from every point of view by far the most suitable language to be selected as the *Lingua-Franca* of India

अर्थात्, हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है।

बंगभाषा के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय राय बंकिमचंद्र चटर्जी बहादुर अपने "बंगदर्शन"-नामक मासिकपत्र के पाँचवें खंड में बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—

"इँराजी भाषा द्वारा याहा हउक किंतु हिंदि शिक्षा ना करिले कोनो क्रमेई चलिबेना। हिंदि भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बाँगला ओ इँराजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासीर सख्यार सहित तुलना करिले बाँगला ओ इँरेजी कय जन लोक बोलिते वा बुझिते पारेन? बाँगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदीभाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याँहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करिते पारिबेन ताँहाराई प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।"

प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष अपने "धर्म"-नामक साप्ताहिक पत्र में कहते हैं—"भाषार भेदे आर बाधा हइबे ना, सकले स्व-स्व मातृ-भाषा रक्षा करियाओ साधारण भाषा रूपे हिंदीभाषा के ग्रहण करिया सेई अतराय विनष्ट करिब।"

हिंदू ही नहीं, परलोकवासी सैयद अली बिलग्रामी-जैसे मुसलमान विद्वानों ने भी हिंदी को ही राष्ट्रभाषा होने-योग्य बताया है। धर्म्मांधता तथा प्रादेशिक प्रेम के कारण कुछ लोग भले ही हिंदी का विरोध करें, पर सत्य की सदा जय है। आज हो, या कल अथवा परसों, हिंदी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होगी, इसमें संदेह नहीं।

हिंदी समाचार-पत्रों तथा पुस्तकों का प्रचार भी क्रमशः बढ़ रहा है। और विश्वविद्यालयों की बात तो मैं जानता नहीं, पर कलकत्ता-विश्वविद्यालय में तो बी० ए० तक हिंदी की पहुँच हो गई है। आशा है, आगे एम० ए० में भी पहुँच जायगी। *

इन बातों के देखने से हिंदी की बाहरी अवस्था तो अच्छी मालूम होती है। अब भीतरी अवस्था जैसी है उसे भी जरा देख लेना चाहिए।

भीतरी अवस्था

संतोषजनक नहीं है। भारतेंदु के समय में इसकी जो दशा थी, आजकल भी प्रायः वैसी ही है। इसका कारण हिंदीवालों की उदासीनता, हठ और दुराग्रह है। जिसने जो कुछ एक बार सीख लिया या जान लिया है, वह उससे अधिक सीखने की क़सम खा बैठा है। हिंदीवाले भूल मानना तो जानते ही नहीं। न्याय-अन्याय,

---

* पहुँच गई। संपादक

उचित-अनुचित, कुछ जो जिसके मुँह से निकल जाता है, उसी को ठीक साबित करने में वह अपनी सारी पंडिताई खर्च कर देता है। हिंदीवाले मिलकर काम करना नहीं जानते। इसी से अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापा जा रहा है। कोई आत्मा, गीत, बूँद आदि को पुल्लिंग मानता है, तो कोई स्त्रीलिंग। कोई लिखता है "भारतमित्र-संपादक" और कोई "संपादक-भारतमित्र"। कोई विभक्ति को संज्ञा के साथ मिलाकर लिखता है, तो कोई अलग। अरबी फारसी के शब्दों में कोई बिंदी लगाते हैं, कोई नहीं। मतलब यह कि सब कोई अपनी-अपनी खिचड़ी अलग ही पका रहे हैं। दस वर्ष पहले जो मतभेद था, वही आज भी है। समय-समय पर खंडन-मंडन भी हो जाता है, पर निश्चय कुछ नहीं होता। वही "ढाक के तीन पात" रह जाते हैं। इस मतभेद को दूर करना बहुत आवश्यक है। साहित्य में हठ तथा दुराग्रह को स्थान देना ठीक नहीं। हठ, दुराग्रह और ईर्षा-द्वेष को छोड़कर हमें हिंदी के अभाव एवं त्रुटियों को दूर करना चाहिए, और उसकी उन्नति के लिये सदा प्रस्तुत रहना चाहिए।

गद्य

गद्य की दशा साधारणतः अच्छी है, पर जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं। जितने लिखने वाले हैं, सब अपना-अपना सिक्का अलग जमा रहे हैं। कोई किसी की सुनता नहीं, खूब खींचातानी हो रही है। सुलेखकों की संख्या अभी उँगलियों पर गिनने लायक है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा का अभाव है। जबतक यह अभाव दूर न किया जायगा, हिंदी की यही हीन दशा रहेगी।

व्याकरण

हिंदी में आजकल व्याकरण की मिट्टी पलीद हो रही है। लोग हिंदी लिखते समय व्याकरण को ताक पर रख देते हैं। जिन लोगों का यह कथन है कि हिंदी में व्याकरण का अभी अभाव है, वे भूलते हैं। हिंदी में व्याकरण का अभाव न था, और न है। अभाव सीखने और समझनेवालों का है। हाँ, यह बात जरूर है, कि व्याकरण की कोई सुंदर पुस्तक नहीं है। जो दो-चार छोटी-मोटी आँसू पोछने के लिये हैं भी, उनकी कोई परवा नहीं करता। यदि पर्वा होती, तो लावण्यता, सौंदर्य्यता, बाहुल्यता, ऐक्यता, एकत्रित, प्रसित, क्रोधित आदि शब्दों की सृष्टि न हो पाती।

हिंदी के लेखकों में एकता नहीं है। वर्णविन्यास और पद-योजना इसके प्रमाण हैं। कोई लिखता है "सकता", और कोई "सक्ता", याने क और त को मिलाकर। "सकना" धातु से "सकता" बनता है। धातु रूप में तो क और त संयुक्त नहीं हैं। फिर "सकता" मे क और त का संयोग क्यों हो जाता है? इसी तरह रखा, रक्खा, करें, करैं, लिखें, लिखैं आदि का झगडा चलता है। मैं नही जानता कि इस व्यर्थ के बखेड़े से क्या लाभ सोचा गया है? अगर यह कहा जाय कि उच्चारण के अनुसार ही लिखना चाहिए, तो मैंने आज तक किसी को करैं, लिखैं, इस तरह मुँह बिगाड़ कर बोलते नही सुना है। जो हो, इन छोटे-मोटे झगडों का तय हो जाना ही उचित है।

कोष

उल्लेख करने-योग्य अभी हिंदी में एक भी कोष नहीं है। इसके बिना बडा हर्ज हो रहा है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के

कोप की चर्चा बहुत दिनों से सुनी जा रही है। देखें, वह कब तक प्रकाशित होता है। *

नाटक

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के नाटकों के बाद फिर कोई उत्तम नाटक देखने में नहीं आया। नाटक साहित्य का एक अंग है। इसकी तरफ इतनी उदासीनता न होनी चाहिए।

उपन्यास

इसका बाजार तो खूब ही गरम है। इनकी संख्या नित्य बढ़ती चली जाती है, पर अफसोस यही है कि दो-चार-दस को छोड़कर बाकी सब निकम्मे हैं। अपने दिमाग से निकालनेवाले कम, पर अन्य भाषाओं से उल्था करनेवाले अधिक हैं। उपन्यासों से हिंदी पढ़नेवालों की संख्या बहुत बढ़ी है, और बढ़ती जा रही है। फिर भी गंदे तथा अश्लील उपन्यासों के रोकने का प्रबंध होना चाहिए।

शिल्पकलादि

शिल्पकला, विज्ञान, राजनीति, कृषि तथा इतिहास-संबंधी पुस्तकों का पूरा अभाव है। इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। श्रीयुत महेशचरणसिंह ने 'हिंदी रसायन' नाम की पुस्तक लिखी है। वह अपने ढँग की पहली पोथी है। धन्यवाद है पंडित गौरीशंकर ओझा और मुंशी देवीप्रसादजी को, जिन्होंने हिंदी में ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने का लग्गा लगा दिया है। क्या और कोई माई के लाल अन्य विषयों की तरफ ध्यान न देंगे?

---

* इसके अधिकांश खंड अब निकल गए हैं।—संपादक

समाचार-पत्र

समाचार-पत्रों की सख्या अवश्य बढ गई है, और प्रतिदिन बढ रही है, परतु उनकी भीतरी अवस्था अच्छी नहीं है। दो-चार के सिवा सभी लप्टम-पप्टम चल रहे हैं। दैनिक पत्र अब एक भी नहीं है। मासिक पत्रिकाओं में "सरस्वती" और "मर्यादा" ही विशेष उल्लेख के योग्य हैं। पत्रों के अच्छे या बुरे होने के कारण उनके सपादक हैं। जैसा सपादक होगा, उसका पत्र भी वैसा ही होगा। परतु दु ख है, हिंदी पत्रों के अध्यक्ष और सचालक प्राय आँखें मूँदकर सपादक नियुक्त करते हैं। सपादक की योग्यता तथा सपादक का पद कैसा दायित्वपूर्ण है, इसका तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इसी हेतु सपादक प्राय ऐसे लोग हो जाते हैं, जो अँगरेजी तो क्या, हिंदी भी अच्छी तरह नहीं जानते। ऐसे सपादकों को भला कब अपने कर्तव्य का ज्ञान रह सकता है? वे आपस में लडने और गालियाँ देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री कर डालते हैं। व्यर्थ के झगडे और कलह करने में ही वे अपनी प्रशसा समझते हैं। भाषा का वे कैसा सपिंड श्राद्ध करते हैं, यह सब साहित्य-सेवी जानते है। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति कब सभव है? तारीख २९ जून, सन् १९११, के "अभ्युदय" में "विचारणीय विषय"-शीर्षक लेख के उत्तर में "हिंदी-हितैषी" के नाम से मेरा एक निबध निकला था। उसमें मैंने लिखा था—

"मेरी राय है कि अभी एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके सभासद हिंदी के दो-चार मर्मज्ञ विद्वान हों। इसका काम वर्ष में एक या दो-दो बार हिंदी-परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रशसापत्र देना हो। जिसके पास इस समिति का प्रशसापत्र हो, वही हिंदी

का वास्तविक विद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण लोगों में से पत्र-संपादक भी नियत हुआ करें।" ऐसा हो जाने से हिंदी की लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है वह दूर हो जायगा और हिंदीभाषानभिज्ञ संपादकों की संख्या भी क्रमश: न्यून होती जायगी। आशा है, सम्मेलन इसका प्रबंध करेगा।

पद्य

पद्य की दशा पहले जैसी अच्छी थी, आजकल वैसी ही शोचनीय है। वह 'दो मुल्लों में मुर्गी हराम' की कहावत को चरितार्थ कर रहा है। कोई तो इसे वर्तमान हिंदी याने खड़ी बोली की तरफ खींचता है, और कोई पड़ी बोली अर्थात् ब्रजभाषा की तरफ। इस खींचातानी में पद्यभाग जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया—कुछ उन्नति न कर सका।

ब्रजभाषा के कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं। इससे उनकी कविताओं में कुछ नया आनंद नहीं मिलता। यदि वे लोग समस्या पूर्ति, नायिकाभेदादि छोड़कर प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुसार कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर-मान हो।

खड़ी बोली वाले भी बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं। वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं। खड़ी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं, पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोड़े हैं। केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न अच्छे शब्दों को एकत्र कर देना ही कविता है। कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है। जिस कविता से हृदय की कली विकसित न हो उठे, और चित्त तन्मय

न हो जाय, वह कविता कविता ही नहीं। भूषण के कवित्तों को सुनकर छत्रपति शिवाजी महाराज की नस-नस में उत्साह और वीरता की बिजली दौड़ गयी थी। बिहारी के एक ही दोहे को पढ़कर जयपुर-नरेश जयसिंह मंत्र-मुग्धवत् अंतःपुर से दरबार में दौड़े चले आए थे। क्या आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविताएँ होती हैं? भावशून्य कविता किसी काम की नहीं। भाव ही कविता का प्राण है, परंतु हिंदी में अब अधिकांश कविताएँ भावशून्य ही होती हैं।

कुछ लोग बेतुकी के प्रेमी हो गए हैं। उनका कहना है कि तुक मिलाने में बड़ी झंझट है। इसके फेर में पड़कर कविगण भाव को भूल जाते हैं। पर मैं यह स्वीकार करने के लिए अभी प्रस्तुत नहीं। जो स्वाभाविक वा यथार्थ कवि हैं, वे सदा भावमय रहते हैं। तुक मिलाने की चिंता उनकी भावराशि में बाधा नहीं डाल सकती। यदि यह बात होती तो भूषण, बिहारी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों से लेकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी और पं० श्रीधर पाठक तक की कविताएँ आदर की दृष्टि से न देखी जातीं, क्योंकि इन सब ने मित्राक्षर छंदों में रचना की है। ख़ैर, मैं अमित्राक्षर छंद के अनुरागियों को रोकता नहीं। वे मजे में बेतुकी कविता करें, पर कृपा कर पुराने छंदों की व्यर्थ निंदा न करें।

खड़ी बोली का भी मैं विरोधी नहीं, पर साथ ही प्यारी ब्रज-भाषा को बहिष्कृत करने के पक्ष में भी नहीं। पंडित केदारनाथ भट्ट के कथनानुसार जिस बोली में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने तुतला

कर यशोदा से "मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो" कहा था, उसे पद्य-रचना के समय तिरस्कृत करना कदापि उचित नहीं है। व्रजभाषा में जो रस—जो लालित्य—जो सौंदर्य—जो माधुर्य है, वह खड़ी बोली को अभी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ है।

कहने के लिये अभी बहुत सी बातें हैं, पर समयाभाव के कारण यहीं समाप्त करता हूँ। आशा है, हिंदी की वर्तमान अवस्था का कुछ थोड़ा-सा ज्ञान इससे हो जायगा। हिंदी में जो कुछ अभाव या त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर करना हमारा कर्तव्य है। जब और प्रांतवाले हिंदी को ग्रहण करने के निमित्त प्रस्तुत हो रहे हैं, तो हमें चुपचाप नहीं बैठना चाहिए। भारतेंदुजी के सुर में सुर मिलाकर मैं भी यही कहता हूँ—

"विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार,
सब देशन सों ले करहु, भाषा माहिं प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में, निज भाषा करि यत्न,
राज काज दरबार में, फैलावहु यह रत्न।"

—

अनुप्रास का अन्वेषण *

वर्षों व्यतीत हुए, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललितकुमार वद्योपाध्याय, विद्यारत्न, एम० ए० महाशय ने कलकत्ता-कोलिज स्कायर के युनिवर्सिटी-इन्स्टीट्यूट में सध्या-समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टहास"-शीर्षक बँगला प्रबध का पाठ किया था, जिस में उन्होंने बंगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित सस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, हिंदी और बगला-शब्द, महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बँगला भाषा पर दिखाया था। प्रबध के पढे जाने पर "बँगला बगवासी" के सपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले—"बागलाई कोबीतार भाषा। कारोन एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाई। ओनुप्रास कोबीतार ऐकटी गून।" अर्थात्, 'बँगला ही कविता की भाषा है, क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है, उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।'

मुझे बूढे बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी, क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा जानता क्या था, अबतक जानता और मानता हूँ। मैंने, सोचा, क्या हिंदी-भाषा मे अनुप्रास का अभाव है ? यदि नहीं, तो बँगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जायगी ? यह सोच-विचार

* षष्ठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

मैंने हिंदी में अनुप्रास का अन्वेषण आरंभ कर दिया। इस अनुसंधान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ, उसी को आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत-साहित्य में अनुप्रास का अनुसंधान अनावश्यक जानो, क्योंकि एक तो वह भारत की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है, उस पर सब की समान श्रद्धा है। दूसरे, उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं, तब काव्यों की कथा ही क्या है? निदर्शन के लिये निम्नलिखित स्तव ही पर्याप्त होगा—

"गांग वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्,
त्रिपुरारि शिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।"
"पापापहारि दुरितारि तरंग धारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि,
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि,
गांगं पुनातु सततं शुभकारिवारि।"

एक और सुनिए—

"नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्,
भुजंगास्तुरंगा कुरंगा प्लवंगा,
अनंगारि रंगा ससंगा शिवांगा,
भुजंगाधिपांगी कृतांगा भवंति।"

हिंदी-साहित्य में भी मैंने पद्य की ओर प्रस्थान नहीं किया, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ अनुप्रास का अड्डा अद्भुत रूप से जमा हुआ है। यथा—

चंपक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
चमू चंचरीक के चितौत चोरे चित हैं,

चाँदी को चबूतरा चहूँघा चमचम करे,
चन्दन सों गिरधरदास चरचित है,
चारु चाद-तारे को चंदोवा चारु चाँदनीसो,
चामी कर चोवन पै चचला चकित है,
चुन्निन की चौकी चढी चदमुखी चूडामनि,
चाहन सों चैत करें चैन के चरित है।

अन्य भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के दो-चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनदित और गद्गद हो जाते हैं। पर यहा तो चारों चरणों मे चकार की भरमार है। अफसोस है, तो भी हम हिंदी की हिमायत न कर उर्दू-अँगरेजी का ही आल्हा अलापते हैं। खैर।

इसलिये मैंने पद्य परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया, और वहाँ राजा रईस, राजा-रक, राव-उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-यती, साधु-सन्यासी से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनियाँ-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफगे तक की बातचीत, गपशप, बात-विचार, रहनसहन, खानपान, रफ्तार-गुफ्तार, चालचलन, चालढाल, मेलमुलाकात, रगरूप, आकृति प्रकृति, जानपहचान, हेलमेल, प्रेमप्रीति, भावभाव, जातपाँत, रीतरस्म, रस्मरवाज, रीतनीत, पहनावे-ओढावे, डीलडौल, ठाटबाट, बोलचाल, सगसाथ, सगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल दखल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया-बढाया, न काटा-छाँटा और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत-शकल में जहाँ पाया, वहाँ से वैसे ही उठाकर ठौरठिकाने से मौकामहल देख रख भर दिया है।

अन्वेपरण के पहले अनुप्रास का नामधाम, आकार-प्रकार, रगढग और नामोनिशान जान लेना जरूरी है। अँगरेजी के Alliteration & Assonance, उर्दू-फारसी का काफिया-रदीफ और सस्कृत-हिंदी का अनुप्रास नाम में दो होने पर भी काम में एक ही हैं।

स्वर के विना व्जजन-वर्णो के साम्य को अनुप्रास कहते हैं, याने वाक्य और वाक्याश में वारवार एक ही प्रकार के व्यजन वर्णों के आने को अनुप्रास कहते हैं। इसके अनेक रूपरूपांतर हैं, पर प्रधान पाँच ही हैं। जैसे—

(१) छेकानुप्रास—भोजन विना भजन।

(२) वृत्यनुप्रास—हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का सुदर सिंहासन।

(३) श्रुत्यनुप्रास—खेल-कूद, जगल-झाडी।

(४) अन्त्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है, भारतमित्र सुपत्र।

(५) लाटानुप्रास—शिक्षिता अवला अवला नहीं है।

अच्छा अब असली हाल सुनिए। अनुसधान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्दगिर्द, अगलवगल, अडोसपडोस, टोले-मुहल्ले, घरवाहर, भीतरवाहर, आसपास, इधरउधर, नातेरिश्ते, व धु-बाधव, भाईबद, भाईभतीजे, कुटुमकवीला, पुत्रकलत्र, बालबच्चे, लडकेवाले, जोरूजाँते, चूल्हेचक्की, घरवार, अपनेवेगाने, मानमानेज, भाईबिरादरी, खानदान, परिवार, तमाम अनुप्रास-ही-अनुप्रास नजर आने लगा। इसका अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए। मेरा नाम जगन्नाथप्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहाँगीरपुर-निवासी जौन-माने जसवतरायजी के जेठे वेटे जयतीप्रसादजी, मामा जयकृष्ण-

लालजी और लड़का यदुनंदन है। मेरा आदि-निवास मथुरा, मध्य मिरजापुर और वर्तमान मलयपुर, जिला मुंगेर, प्रवास मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट (कलकत्ता) अल्लमई मिश्र, हिस्सेदार मिरजामलजी, और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं। उपाधि चौबे-चतुर्वेदी, काम चपड़े का और उमर चालीस की है। गोत्र सौश्रव है। किस्साकोता परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन, सबकी मोह-ममता और माया-मोह छोड़, मुँह मोड़ सजधज और बनठन कर अनुप्रास की तलाश में निकल पड़ा।

वाणिज्य-व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य-व्यापार से चलता है, नौकरी-चाकरी से कुछ लेनादेना नहीं। बस, जवानी-दीवानी के फंदे में फँस मनमानी घरजानी करता पहले बंगाल-बंक की बड़ाबाजार-ब्रॉच में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड़-जाकड़, हिसाब-किताब, खाते-पत्तर, उचतखाते, खर्चखाते, खैरातखाते, खुदरा खर्चखाते, बट्टे खाते, व्याजबट्टे, लेनदेन, नकराई सकराई, मिती के भुगतान, खोरो, पैठ-परपैठ, देनेपावने, नाम-जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल-बेचवाल, सामे-शराक्त, सौदासुलुफ, तारवार, लेने-बेचने, खरीद-बिक्री, खरीद-फरोख्त, बेचनेखोचने, मोल लेने, क्रय-विक्रय, मालटाल, मालजाल, मालमता, बिलटी-बीजक, बाकीबकाए, मत्थेपोते, जमीन-जायदाद, धनदौलत, धनधान्य अनधन, सौ के सवाए, नफेमुनाफे, नफेनुकसान, आमदनी-रफ्तनी, आगत-निर्गत, रूँकथोक, दरदाम, मोलतोल, बोहनीबट्टे, बाजारदर, देनदार, दूकानदार, सराफ, बजाज, मुनीम गुमाश्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे, दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, आफीशियल असायनी

और इनसालवेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है । केवल यहीं नहीं—दल्लाल, नमूने, कामकाज, कारबार, कारव्योहार, कामधंधे, खुशी के सौदे, कल-कारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे चट्टे मे भी आप आ बैठे हैं।

बाजार बढे, चढे या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मदा, सुस्त या समान रहे, मारवाडी महाजन हो चाहे बगाली व्यापारी, ब्योहरे बनिये हों, चाहे ब्राह्मण, सभी अनुप्रास के चक्कर में हैं। उत्तमर्ण-अधमर्ण में, स्वदेशी शिल्प में, सूची शिल्प मे, श्रमशिल्प मे, शिल्पसभा मे, श्रमजीवी समवाय मे, कृषि-शिल्प-प्रदर्शिनी मे, वैश्य-वृत्ति मे, व्यवसायात्मिका बुद्धि में, विज्ञान-वाणिज्य मे, अर्थशास्त्र में, कलाकौशल में, "व्यापारे वसते लक्ष्मी" या "लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये" इस मूलमत्र में भी अनुप्रास आ गया है। अमानत मे खयानत करो, धन गनन करो, बचत बचाकर 'नौ नकद न तेरह उधार' करो, कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो या सफेद को स्याह करो, बक से बधक का बदोबस्त कर ब्याज बढाओ, जूट-पाट का फाटका या सट्टा करो, पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।

हमारे लाख के लेनेवाले रेलीनदर्स, अर्नथौजन, वेकरग्रे, टॉम-सनलेजन और लालमारसलपर, तथा बेचनेवाले मिरजापुरी महाजन गरीब-फकीर, बधु-बुम्भावन, मगन-मगन, शिवचरनसहाई, भब्बूलाल, चुन्नीलाल, छूनावत और रामस्वरूपराम रामसकलराम पर भी अनुप्रास का अनुग्रह है। यह दूकानदारी या बनावटी बात नहीं, सच्चा सौदा है।

अग्रसर हुआ, तो कलकत्ते के बड़े बाजार में, दिल्ली के चाँदनी चौक में, बनारस के ठठेरी बाजार में, आगरे के किनारी बाजार में, मिरजापुर के धूधीकटरे मे, कानपुर के कलकटरगज में, जयपुर के जौहरीबाजार में, प्रयाग के जानसेनगज में, मुगेर के बेलनबाजार में, भागलपुर के नाथनगर, सूजागज मे, मैनपुरी के मदार दरवाजे में, पटने के खुचकल्ले में, बबई के कालबादेवी मे भी अनुप्रास को अकड़ते पाया। अस्तु।

साहित्य

अर्जन उपार्जन के उपरांत साहित्य-सेवा है। सस्कृत-साहित्य की कौन कहे, राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य-ससार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य दृष्टि से नहीं, चर्म-चक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कविकुलकुमुदकलाधर, काव्य-कानन-केसरी और कविता-कुजकोकिल कालिदास भी काव्य-कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं-कही तो कष्ट-कल्पना से काव्य का कलेवर कलुपित हो जाता है। यह कपोल-कल्पना नहीं, कवि-कोविदों का कहना है। खैर वशीवट, यमुना-निकट, मोर-मुकुट, पीत पट, कालिंदीकूल, राधामाधव, व्रज-वनिता, ललिता, विधुवदनी, कुँवर कन्हैया, नद-यशोदा, वसुदेव-देवकी, वृंदावन, गिरिगोवर्द्धन, ग्वाल-बाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल-साल, लवग-लता, विपिन विहारी, नदनदन, विरह-व्यथा, वियोगव्यथा, सयोग-वियोग, मधुर मिलन, मदन-महोत्सव और मलयानिल ही नहीं, झिल्लियों की झनकार, वीर बादर, घनगर्जन-वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादर की गरज, शीतल-सुगध-मद मारुत, कुसुमकलिका, मदन-

मजरी, वीरबहूटी, चोश्रा-चदन, अतर-अरगजा, तेल-फुलेल, मेंहदी-महावर, सोलह शृगार, मृगमद, राहुरद, कुमुद कमलक्लहार, स्थलकमल, सरसिज, सरोरुह, पद्मपत्र, एला-लता, लज्जावती लता, छुईमुई की पत्ती, कोयल की कुहक, कूजित कुजकुटीर, शशि, वसती-वायु, मलय-मारुत, मधुमास, युवक-युवती, नवयौवन, षोडशी, स्मर-शर, पवित्र प्रेम, प्रेम-पाश, प्रेम-पिपासा, यामिनी-यापन, रमणी-रत्न, सुरसागर, रससागर, दु ख-दावानल, अध अनुराग, मुग्धा-मध्या, प्रोपितपतिका, वासकसज्जा, अधवा-विधवा-सधवा, चित-चोर, मनमोहन, मदनमोहन, दिलदार यार, प्राणनाथ, प्राणप्रिय, पीन पयोधर प्रेमपत्र, प्रेम-पताका, प्राणदान, सुखस्वप्न, आलिंगन-चुबन, चूमाचाटी, पादपद्म, कृत्रिम कोप, भ्रूसग, भृकुटी-भगी, मानमर्दन और मानभजन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कबुग्रीव, बाहुवल्ली करकमल, पद्मपलाशलोचन, कुचकमल, कुचकलश, कुच-कुम, निविडनितव, पदपल्लव, गजगमन, हरिण-नयन, केसरिकटि, गोल कपोल, गुलाबी गाल, कोमल कर, दाडिमदसन, और साफ-सुथरी गोरी नारी की मधुर मुसकान में जैसे अनुप्रास का वास है, वैसे ही कालीकलूटी, मैलीकुचैली, नाटीमोटी, खोटीछोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुलटा के बिखरे बालों में भी है। तात्पर्य यह कि प्रेम में नेम नहीं, तकल्लुफ में सरासर तकलीफ है। प्रेम का पथ ही पृथक् है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख-दु ख और जीवन-मरण, दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीकी हो या मजाजी, उसमें मार और प्यार, दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। आशिक, माशूक और प्रेमिकप्रेमिकाओं के हावभाव, नाजनखरे, चोंचले, ढको-

सले भुक्तभोगी ही जानते हैं। जो दिलजले हैं, उनका दिन भला कहाँ क्यों लगने लगा। जो सदा सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं, उनसे भला क्या होना जाना है। जिसका सनेह सच्चा है, वह लाख आपत-विपत होते भी सहीसलामत मंजिले-मकसूद को पहुँच जाता है। उसके लिये विघ्नबाधा, विपद्बाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक तो अनुप्रास आया। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान-भूत-भविष्यत में, संज्ञा-सर्वनाम में, विशेष्य-विशेषण में, संधि-समास में, कर्ता-क्रिया-कारक में, कर्ता-कर्म-करण में, उपादान-सम्प्रदान-अधिकरण में, संबंध-संबोधन में, उद्देश्य-विधेय में, कर्तरि-कर्मणि प्रयोगों में, तत्पुरुष-कर्मधारय, बहुब्रीहि-द्वंद्व-द्विगु समासों में, विभक्ति प्रत्यय में, प्रकृति-प्रत्यय में, आसक्ति-आकांक्षा में, सार्थक-निरर्थक शब्दों में, जाति-व्यक्ति और भाववाचक संज्ञाओं में जब अनुप्रास का निवास है, तब सामयिक साहित्य की सामग्री कागज-कलम, कलम पेंसिल, रूल-पेंसिल, हैंडल-होल्डर, स्याहीसोख, निब-पिन, चाकू-कैंची, एडीटर कंपोजिटर, प्रिंटर-पबलिशर, संपादक-मुद्रक-प्रकाशक, प्राप्तपत्र, प्रेरितपत्र, संपादकीय स्तंभ, साहित्य-समाचार, तारसमाचार, तड़ित समाचार, तार-तरंग, विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य-समालोचना, क्रोडपत्र, वेल्युपेबल पारसल और प्रेस-सेंसर में भी अवश्य ही है।

भारतमित्र, अभ्युदय, प्रेमपुष्प, बंगवासी, प्रताप, जयाजीप्रताप, सज्जनकीर्तिसुधाकर, वीरभारत, पाटलिपुत्र, बिहारबंधु, मिथिला-मिहिर, सत्यसमाचार, सत्यसनातन, चित्रमयजगत्, सद्धर्मप्रचारक,

अवधवासी, आनद, वेंकटेश्वर समाचार, दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में, और सरस्वती, मर्यादा, नवनीत, जासूस, नवजीवन, सारदाविनाद, स्त्रीदर्पण, मनोरंजन, वैष्णव-सर्वस्व, सुधानिधि, चतुर्वेदी-चद्रिका, महामडल-मेगजीन, ब्रह्मचारी, ललिता-नामक मासिक पत्रो में अनुप्रास का अश है।

लेखकों में बाबू बालमुकुन्द वर्मा, गगाप्रसाद गुप्त, लाला भगवानदीन, व्रजराज बहादुर बी० ए०, नरेन्द्रनारायण, भास्कर भालेराव, हरिहरसुरूप शास्त्री, तीर्थत्रय सकलनारायण शर्मा, अंबिकाप्रसाद बाजपेयी, वासुदेव, बाबूराव विष्णु पराड़कर, यशोदानदन अखौरी, रामनारायण चतुर्वेदी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, विद्यावारिधि (ज्वालाप्रसाद मिश्र), नदकुमारदेव शर्मा, गिरिजाकुमार घोष, चद्रधर गुलेरी, कृष्णकांत, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गोपालराम गहमरी, रामजीलाल, लज्जाराम, रुद्रदत्त, गौरीशकर हीराचद, राधाचरण, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामावतार, रामरणविजयसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय, देवकीनदन, राय देवीप्रसाद पूर्ण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंबिकादत्त व्यास, माधव मिश्र, श्रीनिवासदास, सदानद मिश्र, तोताराम, लल्लूलाल और लेखिकाओं में यशोदा देवी, राजमन्नी देवी, कृष्णकला, कृष्णकुमारी, तोरन देवी 'लली' रामेश्वरी नेहरू, और हेमतकुमारी चौधरी अनुप्रास के अतर्गत ही मिलीं।

द्विवेदीजी-कृत 'कालिदास की निरकुशता', मनसाराम-लिखित 'निरकुशता-निदर्शन', आत्माराम-रचित 'अनस्थिरता', मौजीराम का 'विचार-वैचित्र्य', शिवशभु शर्मा के चिट्ठे, मस्तराम के मतव्य, मनसुखा का मनसूबा, गिटपिटानद गोलमालकारी, कलकत्ते की

साहित्यसवर्धिनी सभा, प्रयाग या फीरोजाबाद का भारती-भवन, पाठकजी का पद्मकोट, सिंहजी का 'सतसई-सहार', व्यासजी का 'विहारीविहार', प्रतापनारायणजी का 'सांगीत शाकुतल', श्याम+शुक+गणेश विहारी मिश्रों का 'वधुविनोद', या 'कविकीर्तन' तथा 'नवरत्न', मैथिलीशरण की 'भारत-भारती', अयोध्यासिहजी का 'प्रियप्रवास' तथा 'ठेठ हिंदी का ठाठ', अयोध्यानरेश का 'रसकुसुमाकर', जोधपुरी मुरारिदानजी का 'यशवत यशोभूषण' और मेरा ससार-चक्र' तथा 'विचित्र विचरण' भी अनुप्रास आमेज है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने के सबब ही माननीय मदनमोहन मालवीय, गोविंदनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, महात्मा मुशीराम और पडित श्रीधर पाठक तथा महामत्री पुरुषोत्तमदास टडन को भी अनुप्रास ने अछूता न छोडा।

अनुप्रास के अत्यत आग्रह से ही बाबू श्यामसुदरदास इस बार सभापति के आसन पर आसीन हुए। प० ठाकुरदत्त शर्मा स्वागतकारिणी समिति के मत्रिपद को त्याग जडीबूटी जमा करने हिमशैल-शिखर पर सिधारे, और प० राजाराम शास्त्री उक्त पद पर पधारे थे। अनुप्रास के अनुरोध से ही राय रामशरणदास बहादुर ने भी स्वागत कारिणी समिति का अध्यक्ष होना अगीकार किया, और मनहूस मुहर्रम की तग तातील तजकर क्रिसमस का सुहावना समय स्थिर हुआ। लोगों को लखनऊ से ही लाहोर चलने की लालसा लगभग साल भर से लगी हुई थी, पर दाना-पानी ने सब पर पानी फेर दिया। अन्नजल बडा प्रबल है। पग्गड-बाज पजाबियों की परिवर्तन-प्रियता अथवा लहरी लाहोरियों की लपडधोंधों से हमारे, तुम्हारे, सबके छक्के छूट गए, हक्के बक्के हो

इधर-उधर ताक-झाँक करने लगे। घिग्घी बँध गई, बोल बद हुए। पर स्थायी समिति स्थिर रही। किंकर्तव्यविमूढ न हो उसने सोचा, समझा और अलाहाबाद में ही अधिवेशन का आयोजन कर एक सख्त सवाल या मुफीद मसला हल कर डाला। लिहाजा लाचार हो लाहोर की लबी मुसाफ़री से मुँह मोड अनुप्रास के अनुसधान में मैं भी पजाब मेल से पटने होता प्रयाग पहुँच ही गया।

धर्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म-कर्म है। धर्मा ध धर्मधुरधर, धमधुरीण, धर्मावतार और सनातनधर्मावलबी बनकर पोथी-पुराण,श्रुति-स्मृति, शास्त्र-पुराण का पठन-पाठन और श्रवण-मनन निदिध्यासन करो, प्रतिमापूजन-प्रतिपादन, मूर्ति-पूजा-मडन और श्राद्ध-तर्पण का शङ्का समाधान करो, पाखडी पडों, पुरोहितो और पडितों के पैर पूजो, लकीर के फकीर बनो, सयमनियम, तीर्थ-व्रत, योग-भोग, जप-तप, याग-यज्ञ, ज्ञान-ध्यान, स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ कर कर्मकाडी कहाओ, हव्य-कव्य-गव्य, पचामृतपचगव्य, धूपदीप, चदन, पुष्प, कुमकुम, गगाजल, तुलसीदल और ताबूल पूगीफल से परमात्मा का पूजन अर्चन करो, चाहे आर्यसमाजी हो बालविवाह, विधवा-विवाह, बहुविवाह, वृद्ध-विवाह, बेमेल-विवाह का विरोध कर समाज-सस्कार, समाज-सुधार के साथ नियोग निरूपण करो या खडन-म डन, शास्त्रार्थ, सध्या-वदन, होमहवन कर मासपार्टी, घासपार्टी पैदा करो, पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यही नहीं, प्रवृत्ति निवृत्ति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष, मुक्ति-मोक्ष, लोक-परलोक, यमयातना, साकार-निराकार, निर्गुण-सगुण, काशीकरवट, दान-पुण्य, जन्म-मरण, जन्म-मृत्यु, विषय-

वासना, ब्रह्मविद्या, मुक्तिमार्ग, ज्ञान-नेत्र, आगम-निगम, वेद-उपनिषद, वेद-वेदांग-वेदांत, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रसिद्ध-विधि-निषेध और वेदविहित कर्मों में भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार-विचार, नेम-धर्म, नित्यनैमित्तिक क्रिया-कर्म, ध्यान-धारणा, स्तव-स्तोत्र, यंत्र-मंत्र-तंत्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ-लाभ, भजन-पूजन, भगवच्चिंतन, प्रायश्चित्त-पुरश्चरण, वृद्धिश्राद्ध, आद्य-श्राद्ध, सपिंडन-श्राद्ध, पितृप्रेतकृत्य, पिंडप्रदान, कपालक्रिया, जलांजलि, तिलांजलि, पितृपक्ष और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

दरस-परस मज्जन-पान करें, सत्संग या साधुसमागम से दुस्पारावार संसार को अनित्य समझें, सांसारिक सुखसंभोग में सारा समय समर्पित कर दें, मारवाड़ी सहायक समिति संस्थापित करें या श्रीविशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय बनवावें, पर अनुप्रास से अलग नहीं हो सकते। झुनझुनूवाले का लछमन झूला, रामचंद्र गोइनका का जनाना घाट, सोदपुर की पिंजरापोल, रायबहादुर बदरीदास मुनीम का माणिकतल्लेवाला मंदिर, मिरजापुर की गोवर्द्धन-गोशाला, सहारनपुर का (मेरी) सारदासदन, काँगड़ी का गुरुकुल, हिंदी-हीन हिंदू-विश्वविद्यालय, बाबा ज्ञानानंद का शरीर और निगमागम मंडली, व्याख्यानवाचस्पति महा मंत्री दीनदयालुजी का श्रीभारतधर्म-महामंडल, प्रयाग की सेवासमिति और थूकापंथी भी अनुप्रास के आश्रित ही हैं।

हिंदुओं के परब्रह्म परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण, कुबेर, जय-विजय-नामक दोनों द्वारपाल, सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्र, काली, कमला, शीतला, सरस्वती, महामाया, इंद्राणी, शर्वाणी, रुद्राणी, कल्याणी, देव-दानवों, देवी-देवताओं, नरी-किंनरी-अप्सराओं, गंधर्वों

और भूत-प्रेत-पिशाचों में ही नहीं, मुसलमानों के पाकपरवरदिगार अकबर, हजरत मुहम्मद, पीर, पैगंबर, पाँच पीर, हसन-हुसैन, मक्के-मदीने, कलाम अल्लाह, जामा मसजिद, मोती मसजिद, मीना मसदिज, रोजा-रमजान, अलहमदुलिल्लाह और शीया-सुन्नी में ईसाइयों के ईसामसीह, बाइबल, मरियम, देवदूत और प्रभात-प्रार्थना में, बौद्धों के बुद्धदेव, शाक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, बौद्धविहार, और दलाईलामा में, सिक्खों के नानक और गुरु गोविंद में, जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ में, आर्यसमाजियों के स्वामी दयानंद सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश में, ब्रह्मसमाजियों के राजाराममोहनराय में तथा वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुंभ के मेले पर ओ० आर० आर० से हरद्वार जा हर की पैरी के पुल के पास जगज्जननी जाह्नवी के शीतल जल से पाप, ताप, त्रयताप का प्रक्षालन करो, त्रिवेणी के तट पर माघ मेले में मुंडन करा मकर नहाओ, सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में या मलमास में राज गिर जा स्नान-दान करो, संक्रांति के समय सागरसंगम या गंगासागर का सफ़र करो, कार्तिक की पूर्णिमा पर हरिहरक्षेत्र जाकर गंडकी में गोते लगाओ, बनारस के विश्वनाथजी और वैजनाथजी में बम्-बम् बोलो या काशी के कंकर शिवशंकर समान जानो, कोटकाँगड़े की नयनादेवी के दर्शन करो या 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा' के अनुसार शिक्षा-दीक्षा ले घर पर ही अतिथि-अभ्यागतों, साधु-सन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी, व्यभिचारी विहारी, विलासी बाबू बनकर विषय-वासना के वशीभूत हो, बागबगीचे की बारहदरी में चुपचाप संगीसाथियों के साथ मिल-जुल आमोद-प्रमोद, ऐशोइशरत, ऐशोनिशात करो, शराब,

कबाब और माँस-मछलियाँ उडाओ, होटलो में बोतलों के बिलो का टोटल दे चक पर चेक काटो या भाट-भिखारियों, दीन-दुखियों और लूले-लंगडो को कानी कौडी न दे महफिल में मुजरा सुन रडीमँडवे और भाँड-भगतिनों को इनाम-एकराम दे सब स्वाहा कर डालो, या शिखासूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभकुलियों को "तन, मन, धन अर्पन" कर समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहन गति मन के अनुकूल न हो, तो समाज-सशोधन की ही ठहरे। पहले समाजशरीर का स्वरूप स्थिर करो—विवाह-बधन, जातपाँत, छूआछूत, चूल्हेचौके, पचपरमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड एकामेक गड्डमगड्ड हो पुरुषोत्तम-पुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादूदयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुन वाममार्ग से मुँह मोडो, पतित जातियो को शुद्ध कर पटेल-बिल के प्रचारक हो नया नाता जोडो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतत्रता दे उनके शुभचितक बनो या उन्हे निपट निरक्षर और निपढ बना परदे के पीछे रख कूपमण्डूक बनाओ, पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

आश्रम

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये, चार आश्रम हैं। इस कराल कलिकाल में ब्रह्मचर्य की व्याख्या वृथा है। नाम के ब्रह्मचारी बहुत, पर काम के कम हैं। वानप्रस्थ विदा हो चुका है। सन्यास का स्वरूप है, पर शीलस्वभाव नहीं। हाँ, गृहस्थाश्रम का गौरव ग्वालों की कौन कहे, गोस्वामियों तक में हैं। इसलिये अब मैं गृहस्थ के घर में ही घुसकर अनुप्रास की तलाश करता हूँ, क्योंकि धर्म की चर्चा करना लोहे के चने चबाने हैं।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम मे गमन करते ही विवाह—पाणिग्रहण की चिंता चित्त को चचल करती है। घरनी बिना घर नही—गृहिणी के बिना गृह नहीं। स्वजनो, परिजनों और पुरजनों से नीची नजर न करो, तो बनी बात बिगडती है, क्योंकि कारेबारे, कारेकचे का सगसाथ ठहरा। शहर, बाजार और नगर की ही नहीं, गॅवईगॉव और दिहातों की भी यही दशा है। दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, काका-काकी, भाई-भौजाई, भाई-भतीजे, जीजा-जीजी, फूफा-फूफी, नाना-नानी, मामा-मामी, और वहन-बहनोई की बदौलत सबध—सगातें—सगाई हो गई। वैदिक लौकिक रीतभाँत होने लगी। गानेबजाने, नाचगान, राग रग का बाजार गरम हुआ। चहलपहल हुई। सजधज, बाजेगाजे, ठाठबाठ, धूमधाम, धूमधडक्के, तुमतराक, और शानशौकत से ठस्से के साथ बनरे ने सिर पर सेहरा रख घर से घोडी या पीनसपालकी, तामजाम या विहार की खडखडिया पर शुभसायत में यात्रा की। अपने वेगाने, अपने पराए बराती बने। खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते, पैदल चलते ठीकठिकाने पहुँचे। यह उस समय की बात है, जब रेल का जाल नहीं फैला था। अब तो स्टेशन जा, टिकट कटा, माल तुला, महसूल दे-दिवा पलाटफौर्म पर टहलने लगे। पहले से डब्बे रिजर्व करा लो, तो कोई झमट नहीं। सिगनेल ने सिर झुकाया। गाडी आई। चढ बैठे, नहीं तो भोडभाड़ में धकमधक्के, ठेलमठेले, ठॉयठॉय, चखचख, ले-ले, दे-दे, तू-तू, मैं-मैं, हाय हाय ही नही, लप्पड थप्पड, धौलधप्पे, चपत-तमाचे, चाँटे-चटकने, चनकटे-मुक्के, लात जूते, जूतपैजार, मारपीट तक की नौबत पहुँच जाती है। पर तोभी गाडी में गुजर ,नहीं। घटी बजते

खोटी हुई, और गाडी यह गई, वह गई। कुलियों की कामना पूरी करने में कोताही की, और हुज्जत हुई। इससे स्टेशनमास्टर से ले मेहतर तक का मुँह मीठा करना मुसाफिरों के लिये मुफीद है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरों से ही रेलवेवालों का रोजी-रुजगार, रोजी-रोटी चलती है, और घर भरता है, पर तोभी उनके सुख-दु ख का पूछने-वाला कोई नहीं, और न कोई उनकी खोज-खबर ही लेता है। सच-मुच उनका धनी-धोरी कोई नही है। गरमी के मौसम में पथिक पिपासा से पीडित हो पुकारते-पुकारते पसीने-पसीने हो जाते हैं, पर पानीपाँडेजी (चाहे वह कोरी-कलवार ही क्यों न हों) टस-से-मस नहीं होते। कृपा कर आए भी, तो डोल, बालटी, लोटा खाली दिखा रफूचक्कर हो जाते हैं। मुसलमानों के सक्के या बिहिश्ती सुराही-गिलास लिए पहले गोरे गार्ड-ड्राइवरों के ढिग जाते। पीछे मकरूह मुसाफिरों का मुआइना करते हैं। यही नहीं, गाडियाँ लड गई या आपस में उनकी टक्कर हो गई तो जान की जोखिम है। प्राण-पखेरू के उडने में विलम्ब नहीं होता।

अच्छा, अब आगे का हाल-अहवाल सुनिए। बरात के डेरा डालते ही बेटी के बाप पर बेभाव पडने लगती हैं। वह बेचारा बराती-घराती, आए-गए, पई-पाहुने, न्योतहारी-व्योहारी, दोस्त-आशना, गुरु-पुरोहित, सगे-सबंधी के आवभाव, आदरसत्कार, खिलाने-पिलाने-सुलाने के प्रबंध में ही पग जाता है। गरजने-चिल्लाने, बकने-भूकने, समझाने-बुझाने और गुलगपाडे से तबीयत हैरान-परेशान रहती है। सुबह शाम, साँझ सबेरे जब देखो, तब वही बात। अकेले की आफत है। जो धन-जन से भरा-पूरा है, उसकी कुछ मत पूछो। भागवान का हल भूत जोतता है। गरीबों को

भगवान का ही भरोसा है। उनका बेडा वही पार करता है। इसलिये हिम्मत हारने या मन मारने की जरूरत नहीं। पर औरतें गीत गाने, गाली गाने, सीठने सुनाने, सिंगार-पटार करने और चोटी-पाटी, मेंहदी-महावर, मिस्सा-सुरमे में ही मस्त रहती हैं। उन्हें फालतू बातों से क्या मतलब ? खैर, शुभ समय में कन्यादान हुआ। मातृकापूजन, शाखोचार, सप्तपदी, पाद-प्रक्षालन, मधुपर्क, सिंदूरदान आदि शास्त्रोक्त रीतियाँ यथासमय की गईं।

माँगरमडवे, तेलताई, कुँवरकलेवे, बत्तीमिलाई, गूँथखुलाई, पत्तल-बदलौअल, टोकापटा, पाँवपखरावनी आदि स्त्रियाचारों में कुछ कोरकसर या गलती-भूल नहीं रही, यहाँ तक कि गोबरगणेश की पूजा भी पहले ही विधिवत् कर दी गई थी। वर-वधू को बधाइयाँ और मुबारकबाद मिला। दोनों ओर वारे-न्यारे हुए। खर्चवर्च हैसियत के हिसाब से करना ही होशियारों का वसूल है। नहीं तो ब्याह बाद पत्तर भारी हो जाती है।

इसके बाद जेमाजूठी, ज्योनार-भोज, भोजन-छाजन की बारी आई। आहारेव्यौहारे लज्जा न कारे। लाचार निर्लज्ज हो न्योता खाने लोग चले आए। पहले पानीपत्तर, जलपत्तल परोसने की पुरानी प्रथा है। अब साथ में लोटा-गिलास लाने को चाल चल बसी है। इसलिये किसारों, सकोरों और पुरवों का प्रबंध हो जाता है। कच्ची-पक्की निखरे-सखरे, आमिष-निरामिष का विचार बेहद बढ़ गया है। 'घृतपकम् पयोपकम्' के भी प्रेमी हैं। पर कान्यकुब्जों की कहानी अकथ है। ये तीन जने इकट्ठे हो तेरह चूल्हे चाहते हैं। बेटी-रोटी-व्योहार का वहाँ बडा बखेडा है। पर हम चौबे-चतुर्वेदियों की चाल निराली है। इनकी मथुरा ही न्यारी है। यहाँ भेदभाव

नहीं। सब साथ खाने-पीने वाले हैं। हाँ, लकीर के फकीर जरूर हैं। लीक लगाए बिना इनका काम नहीं चलता। यथास्थान सबके आसीन हो जाने पर परोसनेवालों ने पाक-प्रणाली के अनुसार परिवेषण प्रारंभ किया। मैं भी साग-सब्जी और साग-तरकारी से ही शुरू करता हूँ। लीजिए—

रसीला-मठीला आलू, आलू-परवल-पालक, कोंहड़ा-कदुआ करैला-केला-करमकल्ला-कचू, तुरई-झुरई, मूली-मटर, पपीता, रामतरोई, नेनवाँ, गोबी-गाजर-अरवी, करैले की कलौंजी, कचनार की कलियों का रायता, आलू और आम का अचार, अचार-चटनी, चटपटी चटनी, आम-आमले का मुरब्बा, जलजीरा, कानकुल्जों की कढ़ी, करायल, पपची पान।

कच्ची

चावल-दाल, रोटी-पूरी, खीर-झोर, खीर-पूरी, खीर-महेरी, निमेना, खिचडी के चारों यार—घी, दही, पापड़, अचार, बरी-तिलौरी, फुलौरी-पकौरी, तरी-बरी, रसखीर, दाल-फलका।

पक्की

पूरी-कचौरी, पूरी-परामठा, पूरी-तरकारी, दिलखुशहाल-सुहाल रबड़ी-बसौंधी, लड्डू-पेडा, मोहनभोग-मालपूआ, सोहन-हलुआ, समोसा, बुंदियादाना, परवलखो, गुपचुप, बादाम की बर्फी, कलाकंद, खाजा-खुरमा, गुलगुला, बडा पापड, मटर की छीमी, बालाई-मलाई, इमरिती-इन्दरसा, गुलाबजामन-जलेबी, गुटेटा, उलटा चीता, मोतीचूर-मगदल, मेवामिठाई, दूध-दही, मक्खन-मिसरी, नवनीत, मिष्टान्न, पकान, शाकान्न, चव्य-चोष्य, लेह्य-पेय पदार्थों के

सिवा मीठे-सीठे, खट्टे-चरपरे, कडवे-कसैले, तीते, साराश यह कि षट्रस की स्वादिष्ट सामग्री सगृहीत थी ।

फल

फलाहारियों के लिये फलमूल, सेब-नासपाती, अगूर-अनार, अजीर-अखरोट, अमरूद-अनन्नास, आम-जामन, केले-नारियल, शहतूत, खिन्नी, आम-इमली, नीबू-नारगी, कटहल-बडहल, कमरख-कमलगट्टे, सीताफल-शरीफे, श्रीफल-बेल, चिरौंजी, किसमिस-पिस्ते, मुनक्के, बादाम-बिहीदाने, खीरे-ककरी, तरबूज और खरबूजे भी खरीदे गए थे ।

मुसलमानों के लिये बावर्चियों के बनाए कलिया-कबाब, कलिया-पुलाव, कोफ्ता-कोर्मा, शीरमाल, जरदा बिरियानी, केक-बिसकिट, चा-चीनी, मुर्गमुतजन वगैरह खाने अलग दस्तरखान पर चुने गए थे ।

जिसे जुरता नहीं, वह बेचारा-बापुरा गरीब दालदलिया, सागसत्तू, चनाचबेना, रूखासूखा, मोटाझोंटा, मोटामहीन, पत्रपुष्प लेकर ही समधी का सत्कार करता है ।

खाना खाने भोजन करने, भक्षण करने, भकोसने और भखने पर हाथ-मुँह धो, कुल्ला कर, खरके-तिनके से दाँत खोद कोई पान-सुपारी लौंग-लायची सुरती-जरदा तबाकू खाता है, और कोई चिलम-तमाकू, टिकियातमाकू हुक्का गडगडा चुरुट-बीडी-सिगरेट पीता है । नए शौकीन ताम्बूलविहार और जीनतान पर टूटते हैं । मतलब यह कि बँदोबस्त बडा बढिया था । जिसने जो माँगा वही मिला ।

इसके बाद बरात विदा हुई । बरतन-बासन बासनकूसन, असन-बसन, जामाजोड़ा, लहगालुगरा, ओढ़नाबिछौना, तोशकतकिया

गहनागुरिया, गहनागाँठी, रुपएपैसे, जहेज, दानदहेज, दमाद को दस्तूर से ज्यादा दिए गए थे। नगदनारायण में भी न्यूनता न थी। जिन लोगों मे लेनदेन की—ठहरौनी की—रीत है, उनमें बडा झगडाझटा, झगडा-बखेडा होता है, पर यहाँ चींचपड, गड़बडशड़बड के विना हँसीखुशी मामला मिटा। विदा के वक्त स्त्रियों का मिलना-जुलना, मिलना-भेंटना, लिपटना, रोना-धोना देखकर पत्थर भी पसीजता था। जनाव, बेटी की विदा है या दिल्लगी ? दुष्यत के दरबार में शकुतला को भेजते समय काननवासी कठोर कण्व का भी कलेजा कॉप गया था। यह हमारा तुम्हारा नहीं, कवियों के कुलगुरु कालिदास का कथन है। खैर, वहू की विदा ले बरात बस्ती के बाहर हुई। गौने-रौने की रस्म भी पूरी कर दी गई। जैसे गई थी वैसे ही कुशल-मगल बरात घर वापिस आई। बहू के निरीछन-परीछन हो जाने के बाद बेटे-बहू या वर-वधू का गृह-प्रवेश हुआ। पावपडाई और मुहदिखाई हुई। सास-ससुर, देवरानी-जिठानी, नद-नदोई से नया नेह नाता लगा। ससुराल में साली-सलहज, साला-साली और साढू का सबध स्वयसिद्ध हो जाता है।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेपण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देनेवाला नहीं। धैर्य धारण कर दिन-दूने रात-चौगुने साहस और उत्साह से हाट-बाट, घरघाट, नदीनाले, जगल-झाड़ी, वन-पर्वत को कौन कहे, देश विदेश और सात समुद्र पार जाकर [illegible] में दिनदोपहर, दिनदहाड़े, रातबिरात बेरोकटोक [illegible] मिलते ही अनुप्रास की खुशखबरी, शुर [illegible] अभी तो गृहस्थाश्रम [illegible]

लिपि कैसी है, यह आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी दिग्दर्शन के लिये इतना ही कहना अलम् होगा कि किसीने रोमन में लिखा "अच्युत प्रसाद" और एक अँगरेज प्रिनसिपल ने उसे पढ़ा "ए च्यूटा प्रसाड।"

अच्छा, अब मैं अपने प्रश्न की ओर आता हूँ। सारे भारतवर्ष का विचार छोडकर अपने हिंदीभाषी प्रदेशों की ही बात आज कहता हूँ। यहाँ विधि विडबना से अँगरेजी, उर्दू, और हिंदी, इन तीन भाषाओं का तिगड्डम हो गया है। इसी से प्रश्न उठता है कि हमारी शिक्षा अँगरेजी मे हो या हिंदी-उर्दू में। अँगरेजी राजभाषा है, हिंदी मातृभाषा और उर्दू को दाल भात में मूसलचद की भाषा के सिवा और क्या कहें ? क्योंकि यह न राजा की भाषा है, और न प्रजा की। हिंदी-उर्दू की बात फिर कभी कहूँगा। आज राजभाषा अँगरेजी का ही गुणगान करता हूँ। इसमें सदेह नहीं कि हमारा भारतवर्ष एक विचित्र देश है। विदेशी चालचलन, रहनसहन, रीति-नीति, भाषा-भेष आदि सीखने में जैसा यह बहादुर है, वैसा और कोई देश नहीं। और बातें छोडकर आज मैं भाषा के सबध में ही कुछ कहूँगा। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे शारीरिक सगठन के सपूर्ण प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश ग्रहण कर बैठा है। पोशाक जातीयता का जैसा चिह्न है, भाषा भी वैसे ही है। जिस देश का जैसा जलवायु होता है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही होती है। भाषा की भी वही दशा है। शरीर और मुख की बनावट से भाषा का बडा गहरा सबध है। मनुष्य-जाति का सगठन देश-काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चाल-चलन एकसा नहीं है। जैसा देश, के

हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ?*

आजकल का यह प्रज्वलित प्रश्न है कि हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ? यदि यही प्रश्न विलायत में कोई अँगरेज करे, तो वह अवश्य पागल समझा जायगा, क्योंकि यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक है, जैसा यह कि हम स्थल में रहें या जल में ? इसका उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि प्रकृति जहा कहे, वहीं रहो। इसी प्रकार जिसकी जो मातृभाषा या देशभाषा है, उसी मे उसकी शिक्षा होनी चाहिए, और यही नैसर्गिक नियम भी है। पर हमारे भारतवर्ष की बात ही निराली है। यहा ऐसे-ऐसे ही अनगढ प्रश्न उठा करते हैं, और उन पर खूब तर्क-वितर्क होता है। कभी-कभी वह कार्य में भी परिणत हो जाते हैं। इसी से विदेशी लोग भी कृपा कर हमारे हित के लिये नई-नई उद्भावनाएँ किया करते हैं। इन हितचिंतक नामधारियों की हम प्रशसा करे या निंदा, यह अभी तक हमारी समझ में नहीं आया है। कुछ दिनों से हमारे एक नए हितचिंतक उत्पन्न हो गए है। आपका नाम रेवरेण्ड जे नोल्स है। आपकी राय है कि, भारत मे राष्ट्र-लिपि होने के योग्य यदि कोई लिपि है, तो वह रोमन ही है। आप राय देकर ही चुप नही हुए, परोपकार से प्रेरित हो उसके लिये परिश्रम भी कर रहे हैं, क्योंकि आप पादडी हैं, परोपकारी हैं, और पथ-प्रदर्शक हैं। यह रोमन

* सवत् १९७३ में, जबलपुर के सप्तम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

लिपि कैसी है, यह आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी दिग्दर्शन के लिये इतना ही कहना अलम् होगा कि किसीने रोमन में लिखा "अच्युत प्रसाद" और एक अँगरेज प्रिनसिपल ने उसे पढ़ा "ए च्यूटा प्रसाड।"

अच्छा, अब मैं अपने प्रश्न की ओर आता हूँ। सारे भारतवर्ष का विचार छोड़कर अपने हिंदीभाषी प्रदेशों की ही बात आज कहता हू। यहाँ विधि विडंबना से अँगरेजी, उर्दू, और हिंदी, इन तीन भाषाओं का तिगड्डम हो गया है। इसी से प्रश्न उठता है कि हमारी शिक्षा अँगरेजी मे हो या हिंदी-उर्दू में। अँगरेजी राजभाषा है, हिंदी मातृभाषा और उर्दू को दाल-भात में मूसलचद की भाषा के सिवा और क्या कहे ? क्योंकि यह न राजा की भाषा है, और न प्रजा की। हिंदी-उर्दू की बात फिर कभी कहूगा। आज राजभाषा अँगरेजी का ही गुणगान करता हूँ। इसमे सदेह नहीं कि हमारा भारतवर्ष एक विचित्र देश है। विदेशी चालचलन, रहनसहन, रीति-नीति, भाषा-भेष आदि सीखने में जैसा यह बहादुर है, वैसा और कोई देश नहीं। और बातें छोड़कर आज मैं भाषा के सबध में ही कुछ कहूँगा। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे शारीरिक सगठन के सपूर्ण प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश ग्रहण कर बैठा है। पोशाक जातीयता का जैसा चिह्न है, भाषा भी वैसे ही है। जिस देश का जैसा जलवायु होता है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही होती है। भाषा की भी वही दशा है। शरीर और मुख की बनावट से भाषा का बड़ा गहरा सबध है। मनुष्य जाति का सगठन देश-काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चाल-चलन एकसा नहीं है। जैसा देश, वैसा वेप। भाषा भी देश के

अनुसार ही बनती है। इन सबकी बनानेवाली देवी प्रकृति(Nature) है। वह एक दिन मे नही, कई युगों में देश के जलवायु के अनुकूल वेष और भाषा तैयार कर देती है। किसीकी खाल खींचना उसे जान से मार डालना है। उस पर दूसरे की खाल चढाना असभव है, एक जाति को पोशाक छीनकर दूसरे को पहना देना समव है, पर परिणाम इसका भी वैसा ही है। भाषा के बारे मे भी वही बात है। गरम मुल्कवाले ढीलाढाला महीन कुरता पहनते है, और सर्द मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट तथा पैंट। उत्तरी ध्रुव का निवासी मलमल का ढीलाढाला कुरता पहने, तो वह जाडे से जकड जायगा, और सहारावासी मोटा ऊनी कोट पहने तो वह गरमी से घबरा जायगा। हमारे स्वास्थ्य और शरीर के लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है उतनी ही मानसिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन तथा हमारे भाव और विचारों के बिलकुल विपरीत है, उसे दबाव में पडकर ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

भारत की प्राय सब भाषाएँ सस्कृत से निकली हैं। सस्कृत विशुद्ध और सरल भाषा है। अतएव उससे निकली हुई भाषाएँ भी विशुद्ध और सरल हैं, इसमें सदेह नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि अँगरेजी का भी उद्गम-स्थान आर्यभाषा सस्कृत ही है, क्योंकि इसमें लैटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ सस्कृत की भी पुट है। यदि यही बात है, तो मैं कहता हूँ कि अँगरेजी अनार्य भाषा से निकली है, क्योंकि इस में अनार्य भाषा के भी बहुत से शब्द हैं। सस्कृत से अँगरेजी कदापि नहीं निकली है।

हमारी सस्कृत-भाषा उन महात्माओं की बनाई है, जो भाषा-विज्ञान के पारदर्शी थे। इसी से यह सर्वांग सुन्दर है। वर्ण, मात्रादि जितने अग भाषा के है, वे सब इसमें पूर्ण रूप से हैं। अपूर्णता की तो इसमे गध तक नही। इसका व्याकरण पूर्ण और नियम सुदृढ हैं—ऐसे सुदृढ कि उन्हे तोडने का कोई साहस नहीं कर सकता। क्या अँगरेजी मे भी ऐसा कोई पक्का नियम है ? कदापि नहीं। अंगरेजी भाषा में न तो नियम हैं, और न व्याकरण। है केवल गडबडझाला। उच्चारण, शब्द-रचना, वाक्य-रचना, वर्ण-विन्यास (Spelling) आदि की विभिन्नता ही इसका प्रमाण है।

सस्कृत की शिक्षा-प्रणाली वैज्ञानिक और नियमानुकूल है, परतु अँगरेजी की ठीक इसके विपरीत। इसी लिये अँगरेजी शिक्षा हमारी मानसिक शक्ति पर व्याघात पहुँचाने के सिवा और कुछ नहीं करती। अँगरेजी पढ़ना अपना शरीर नष्ट करना है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने का यही फल है। जिन्हें इस बात का विश्वास न हो, वे आँखें खोलकर अँगरेजी शिक्षित समाज को देख लें। किसीकी आँखें खराब हो गई हैं, तो किसी का हाजमा बिगड़ गया है, किसीको मदाग्नि है, तो किसीको और कुछ। मतलब यह कि प्राय सभी कृश और बलहीन मिलेंगे। चर्मचक्षुओं पर चश्मा लगाने की तो चाल-सी चल पडी है। इनमें कुछ तो शौक़ के आँखें रहते अधे बनते हैं, पर बाक़ी अँगरेजी शिक्षा का ही फल भोगते हैं।

हमारी शिक्षा वैज्ञानिक कैसे है, यह सस्कृत और अँगरेजी की वर्णमालाएँ मिलाकर देखने से ही मालूम हो जायगा। आपको सस्कृत की वर्णमाला पूर्ण और अँगरेजी की अपूर्ण मिलेगी। सस्कृत

के अक्षर सीधेसादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है—जैसी ध्वनि, अक्षर भी वैसा ही। अहा! जरा देखिए तो सही कि ये अक्षर कैसी सुदरता और नियम से बनाए गए हैं। व्यंजन पॉच वर्गों मे विभक्त हैं क, च, ट, त और प। येही पॉच वर्ग हैं। क वर्ग का उच्चारण जिह्वा के मूल से होता है, अर्थात् कठ से और च वर्ग का तालू से। यह स्थान कठ से जरा आगे है। ट वर्ग का उच्चारण मूर्द्धा से होता है। यह तालू के जरा आगे है, त वर्ग का दाँतों से, और प वर्ग का होठों से होता है। ये स्थान भी क्रमश आगे बढते आए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के अक्षर क्रमानुसार रखे गए हैं। स्वरों को भी देख लीजिए। उच्चारण के अनुसार उनका भी क्रम है।

अब जरा अगरेजी अक्षरों की कथा सुन लीजिए। वे पूरे हैं या अधूरे, यह मैं कुछ न कहूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि उसमें त वर्ग नहीं है। वहाँ एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पडते हैं। इसी से आप को जो कुछ समझना हो समझलें। कई अक्षरों की ध्वनि अस्पष्ट और गडबड है। I, U, Y, W, X, V, Z, इसके नमूने हैं। आप ही कहिए, इनके उच्चारण मे भला कौन सा नियम है? क्रम भी "तथैवच" है। व्यजनों का उच्चारण और भी गजब ढाहता है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यजन के अत में अ है, पर अँगरेजी में इसका कोई नियम नहीं। किसी के आगे A (ए) है, तो किसी के पीछे E (ई)। अक्षरों का क्रम भी माशाअल्लाह है। "अ" का पता ही नहीं, और (A) आ बैठा है। न E (ई) का ठिकाना, और न व का, पर A (ए) के बाद B (बी) विराज रही है। अगर कोई पूछ बैठे कि यह B (बी)

कहाँ से आ टपकी, तो अँगरेजीवाले क्या जवाब देंगे ? यह सब कोई जानते और मानते हैं कि स्वर की सहायता बिना व्यजन का उच्चारण नही हो सकता। E (ई) की सृष्टि अभी हुई नहीं, और न य का ही जन्म हुआ, फिर इन दोनों का योग कैसे हो गया ? क्या यह आश्चर्य की बात नही ? W (डबल्यु) कभी स्वर और कभी व्यजन माना जाता है। इसके व्यजन होने में तो कुछ सन्देह नहीं, पर यह स्वर कैसे हो गया, यही आश्चर्य है। एक विचित्र बात और भी है, इसका नाम तो है डबल्यु याने दो यु, पर ई (E) के साथ इसका सयोग होते ही यह "वी" (We) हो जाता है। U तो S के साथ मिलकर "अस" होता है, फिर डबल्यु, ई (WE) 'वी' कैसे हो गया ? इसे तो 'ई' होना चाहिए था। खैर, हमारे अक्षरों मे ये सब दोष नही हैं। ये सरल है। इन्हें एक बच्चा भी अनायास सीख सकता है, क्योंकि यह वैज्ञानिक रीति से बनाए गए हैं। इसी से इनमे सरलता आगयी है। सरलता का ही नाम विज्ञान है।

अब तनिक अँगरेजी शब्दों का मुलाहिजा कीजिए। एक ही शब्द में कई प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। नमूने के लिये Foreigner हाजिर है। इसमे चार स्वर है। इन चारों के उच्चारण की ओर ध्यान दीजिए। वर्णमाला में उनके जो उच्चारण है, यहाँ उनसे बिलकुल विलक्षण। एक व्यजन का तो उच्चारण ही लोप है। कहिए, कैसी अद्भुत भाषा है। भला ऐसी भाषा के अध्ययन में अपना समय लोग क्यों नष्ट करते है ? अँगरेजी भाषा में जो शब्द लैटिन या ग्रीक भाषाओं से आए हैं, उनमें उपसर्ग और प्रत्यय (Prefixes and suffixes) लगते हैं, और उनका विशेष

अर्थ धातुओं के अनुसार हमारी भाषा की तरह नियम से होता है। पर अँगरेजी (Anglo saxon) के जो विशुद्ध शब्द हैं, उनके बारे में कुछ मत पूछिए। उनकी बनावट में बडा गड़बडाध्याय है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है, और न व्युत्पत्ति का कोई ठिकाना। मनमानी घरजानी है। अँगरेजी भाषा के विशुद्ध शब्द बलवान (Strong) कहलाते हैं, पर हैं वे नियम-विरुद्ध। जो नियमबद्ध है, उनका नाम है दुर्बल (Weak)। नियम-विरुद्धता के मानी बलवत्ता और नियम-बद्धता के मानी दुर्बलता है। भाव-प्रकाश करने का कैसा अच्छा ढग है।

जहाँ भाव का अभाव है, वहीं शब्दों का भी है। अँगरेजी भाषा पहले नितात दरिद्र थी। इसी से अन्य भाषाओं के शब्दों से उसे अपना पेट भरना पडा है। ससार मे आर्य या अनार्य, ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे इसने ऋण न लिया हो। पर इसमें भी बडी चालाकी है। अन्य भाषाओं के शब्द इस तरह तोडे, फोडे और मरोडे गए हैं कि उनके असली रूप का पता लगाना कठिन हो गया है। उदाहरण के लिये Orange सामने है। कहिए, इसका मूलरूप क्या है ? मैं समझता हू, नारगी ने ही Orange का रूप धारण किया है।

अब इसके रूपातर की रामकहानी भी जरा सुन लीजिए। किसी चतुर अगरेज के हाथ एक नारगी लगी। उसने अपनी लिपि मे उसे A norangi लिखा। कुछ दिनों के बाद a norangi का N (एन) A (ए) के साथ जा मिला। तब a norangi की an orangi बन गई। बिंदी घिस जाने से i (आई) की e (ई) हो गई। बस a norangi का खासा An orange बन गया। कहिए,

वैसा जादू है। इसी तरह और शब्दों का भी काया कल्प हुआ है। लेख बढ़जाने के भय से केवल एक ही उदाहरण दिया गया है। इस काया-कल्प की चाल हिंदी, बंगला आदि भारतीय भाषाओं में भी है, पर देववाणी संस्कृत में नहीं।

अब जरा अँगरेजी व्याकरण की लीला देखिए। एकवचन से बहुवचन बनाने का कोई पक्का नियम ही नहीं है। Loaf का बहुवचन Loaves है, पर Hoof का बहुवचन है Hoofs। इसी तरह man का men, Boy का Boys, mouse का mice और Cow का Kine होता है।

लिंग-प्रकरण में भी वही गड़बड़झाला है। असली अँगरेजी पुल्लिंग शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में विकार नहीं होता—उनका रूपांतर होजाता है। जैसे, Bachelor का Maid, Hart का Roe, King का Queen आदि। पर Emperor की Empress और actor की actress आदि का भी मुलाहजा कर लीजिए। ये विदेशी शब्द हैं। अँगरेजी वैयाकरणों की प्रतिभा स्त्रीलिंग के लिए नए-नए शब्द गढ़ते-गढ़ते जब कुंठित हो गई, तो पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का भेद बताने के लिए उन्होंने शब्दों में He, she, man, maid, cock, Hen जोड़ देने की प्रथा निकाली। जैसे, He-goat का she-goat, man-servant का maid-servant और cock-sparrow का Hen-sparrow आदि।

उच्चारण और वर्ण-विन्यास की दशा और भी हास्य-जनक है। इनके लिये न तो कोई नियम है, और न कायदा। केवल बाबा-वचन का भरोसा है। जैसा सुनो, वैसा कहो। भला इस जबरदस्ती का भी कुछ ठिकाना है! जी+ओ=गो (go), और डी+ओ=डू (do),

एच+ई+आर+ई=हीअर (Heie) और टी+एच+ई+आर+ई=देअर (There), डी+डबल ई+आर=डीयर (Deer) और डब्लयु+डबल ई+के=वीक (Week) डी+ई+ए+आर=डीयर (Dear) आदि मे क्या कोई नियम है ? 'जी' के साथ तो 'ओ' का ओ बना रहा, पर 'डी' के साथ 'ऊ' हो गया। एच+ई+आर+ई=here (हीयर) होता है, तो टी+एच+ई+आर+ई=दीअर होना चाहिए। जब w, e, a, k वीक होता है, तो d, e, a, r डीर न होकर डीयर क्यों हुआ ? w, e, e, k वीक होता है, तो d, e, e, r डीर होना उचित था। पर क्यो ऐसा नहीं हुआ ? यह भगवान ही जाने। c के उच्चारण मे भी बडी आफत है। कहीं तो वह 'क' (k) का काम देती है, और कही 'स' का-जैसे Cucumference, इस एक ही शब्द में "सी" (c) ने दो रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द के आरभ मे "सी" (c) का उच्चारण 'स'-जैसा और मध्य में 'क'-जैसा होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हमारे Calcutta में ऐसा नहीं होता। यहाँ आदि और मध्य, दोनो जगह 'सी' (c) ने 'क' का रूप धारण किया है। एक बात और है। जब कलकत्ते और कानपुर में "सी" (c)का साम्राज्य है, तो कालका और काल्पी पर "के"(k)की कृपा क्यों हुई ? क्या कोई इसका कारण बता सकता है ? अच्छा, आगे चलिए। पी+यु+टी=पुट (Put), और बी+यु+टी=बट (But), पी+आई+जी=पिग (Pig) और एस+आई+आर=सर (Sir) आदि शब्द तो अँगरेजी भाषा की त्रुटियाँ डके की चोट बता रहे हैं। पर कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनके सब अक्षरो का उच्चारण ही नही होता। जैसे G, N, A T=नेट, P, S, E, U, D, O,

N, Y, M,=सुडोनियम, P, S, A, L, M,=साम, K, N, O, W, L, E, S,=नोल्स आदि। नेट (gnat) में 'जी' (G) का, सुडोनियम, (Pseudonym) में 'पी' (P) और 'ई' (E) का, साम (Psalm) में "पी" (P) और 'एल' (L) का उच्चारण नहीं होता। नोल्स (Knowles) मे 'के' (K) खासी करवट ले गया है, डबल्यु (W) डर गया और 'ई' (E) बेचारा बेमौत मर गई है। यह वही नोल्स हैं, जो भारत में रोमन लिपि चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। नोल्स के नाम का रोमन में यह परिणाम है, तो उसका काम कैसा है, यह आप स्वय सोच लें। जब इन अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता है, तब इन्हे इन शब्दों में मिलाकर लिखने की जरूरत ही क्या थी ? कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो लिखे जाते कुछ हैं, और पढे जाते कुछ। जैसे, Lieutinant आदि। यह लिखा जाता है लिउटिनेंट, पर पढा जाता है लेफटिनेंट। अगर कोई इन बातों का कारण पूछे, तो अँगरेजी के वैयाकरणों से चुप रहने के सिवा और कुछ जवाब देते न बनेगा। ऐसे एक या दो नहीं, सैकडों शब्द मिलेंगे। मैंने तो उदाहरण के लिये केवल दो-चार शब्द लिख दिए हैं।

अच्छा, अब शब्द-योजना की भी चाशनी देख लीजिए। A flying fox and running water का मतलब तो आपने समझ ही लिया होगा, पर a walking stick and a drinking cup का क्या मतलब है ? अगर flying fox का अर्थ भागती हुई लोमड़ी और running water का बहता पानी है, तो Walking stick का अर्थ टहलती हुई छडी और drinking cup का पीता हुआ प्याला होना चाहिए। पर होता है टहलने की छड़ी,

और पीने का प्याला। इस एक ही प्रकार की शब्द-योजना में दो प्रकार के अर्थ क्यों? क्या इसका कुछ कारण है?

इन कई शताब्दियों में अँगरेजी-भाषा बहुत परिवर्तित हुई है, यह भी ध्यान देने योग्य बात है। चॉसर की अँगरेजी आजकल की अँगरेजी से बिलकुल भिन्न है। शेक्सपीयर की अँगरेजी समझ लेना सहज नहीं। लोग कहते हैं, वह व्याकरण की परवा नहीं करता था। पर उस समय व्याकरण ही नहीं था, वह परवा किसकी करता। जो हो उसके भाव सुंदर और ऊँचे थे, इसमें संदेह नहीं।

इन कई उदाहरणों से आपको मालूम हो गया होगा कि अँगरेजी कैसी भाषा है। इसमें न व्याकरण है, न नियम है और न कायदा। अगर कुछ है, तो वह है अक्षरों का अभाव, वर्णविन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। इन कारणों से ही यह भारतवर्ष के उपयुक्त भाषा नहीं है। इसे पढ़ना अपने समय और शक्ति का सत्यानाश करना है। केवल यही नहीं, इससे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है। अँगरेजी-भाषा हमारी मानसिक शक्ति को दुर्बल कर डालती है। इससे हमारी सच्ची उन्नति नहीं होती, उलटे उसमें रुकावट पहुँचती है। बालकों को मातृभाषा में गणित, विज्ञान, भूगोल और इतिहास पढ़ाने से वे बहुत जल्द समझ लेते हैं, पर वे ही चीजें अंगरेजी में पढ़ाने से कठिन हो जाती हैं। लड़के उन्हें जल्द नहीं समझ सकते। किसी लड़के से मौसमी हवा (Monsoon) के बारे में पूछिए, तो वह अँगरेजी में ठीक-ठीक उत्तर दे देगा, पर हिंदी में समझाने कहिए तो उसको नानी मर जायगी, क्योंकि उसने स्वयं समझा नहीं, तोते की तरह केवल रट लिया है।

जो विषय कॉलिज के छात्र भी नहीं समझ सकते, उन्हें मातृ-भाषा में बताने से हमारे छोटे-छोटे बच्चे अनायास समझ लेते हैं। हम भारतवासियों के लिये अँगरेजी-जैसी दुरूह भाषा में किसी विषय का सीखना बड़ी कठिनता का काम है। दुधमुहे बच्चों को विदेशी भाषा पढ़ने के लिये लाचार करना बड़ा अन्याय है। इसमे भी दोष हमारा ही है। आजकल हमारी अवस्था जैसी हो रही है, उसमें हम अँगरेजी पढ़े बिना कुछ नहीं कर सकते। जो कुछ पाश्चात्य विज्ञान और शिल्पकला हमने सीखी है वह इसी अँगरेजी के अनुग्रह से। अतएव हमें इसका कृतज्ञ होना चाहिए। अभी हमें बहुत कुछ सीखना बाकी है। अँगरेजी-भाषा जरूर सीखनी चाहिए, पर उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसके अध्ययन से विशेष कुछ लाभ नहीं। भाषा-तत्वविद् भले ही इसका अध्ययन करें, पर सब लोगों को इसके लिये परिश्रम करने की क्या जरूरत है ? इसमें जो अच्छे विषय है, उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य है, कुछ भाषा की बारीकियाँ नहीं। फिर क्यों हम अपना समय, स्वास्थ्य और शक्ति इसके अध्ययन में नष्ट करें ? इससे क्या लाभ होगा ? मैं जानता हूँ, ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अँगरेजी-भाषा की बारीकियाँ और खूबियाँ जानने के लिये अपना सारा समय और सारी शक्ति लगा देते हैं। वे केवल नाम पैदा करने के लिये ऐसा करते हैं। क्या वे अपने इस परिश्रम से अँगरेजी-भाषा को उन्नत कर देंगे ? कभी नहीं। जो ऐसा विचार करते हैं, वे भूलते हैं। अँगरेजी की उन्नति के लिये अँगरेजों को ही छोड़ दीजिए। आप अपना घर सम्हालिए। उधर की अपेक्षा इधर आपको नाम पाने का ज्यादा मौका है। जो कुछ थोड़ा-सा उत्साह आपके पास है, उसे फालतू कामों में व्यर्थ नष्ट मत कर दीजिए।

अब प्रश्न यह है कि अँगरेजी-भाषा हमें सीखनी है, तो कौन-सी भाषा सीखनी चाहिए? चॉसर की या शेक्सपीयर की, जॉनसन की या मेकॉले की, अँगरेजी कवियों की या पंडिताभिमानियों की, नगर-निवासियों की या देहाती गँवारों की? मैं कहूँगा, इनमें से किसीकी भी नहीं।

हमें हेनबी (Hanby) डारविन (Darwin) और स्पेंसर (Spencer) की भाषा सीखनी चाहिए—विज्ञानी, शिल्पी, और व्यवसायियों की भाषा सीखनी चाहिए। यह बड़े दुःख की बात है कि हमारी युनिवर्सिटियाँ बडी निर्दयता से अँगरेजी-भाषा का अध्ययन करने के लिए हम पर दबाव डालती हैं। इसी से प्रतिवर्ष सैकडे पीछे ४०-५० लड़के अँगरेजी में फेल होते हैं। यदि शेक्सपीयर और मिल्टन स्वयं आते, तो वे भी इन परीक्षाओं में अवश्य फेल होते। फिर बेचारे भारतवासियों की गिनती ही क्या है?

किसी भाषा के सीखने में समय लगाना उसे वृथा खो देना है। भाषा का ज्ञान तो विषय के साथ-साथ होता है। जो विषय के बिना भाषा सीखते हैं, वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। हक्सले साहब (Huxley) की राय है कि भाषा सीखने में समय नष्ट करना उचित नहीं। वह कहते हैं कि जैसे लडकियाँ कपड़े पहनने में समय खराब करती हैं, वैसे ही लडके भाषा सीखने में। बुरी आदतें तुरंत छुडानी चाहिए, पर अफ़सोस! इस अभागे देश की दशा ही विचित्र है। युनिवर्सिटियाँ हमें उच्च श्रेणी की प्राचीन अँगरेजी Classical English पढ़ाने के लिये कसम खाए बैठी हैं। नतीजा चाहे कुछ हो, पर वे तो जबरदस्ती सडी-गली चीजें हमारे गले में ठूँसेंगी।

युनिवर्सिटियाँ एक ऐसी भाषा सिखलावेंगी, जिसके न कुछ मानी है, और न कुछ मतलब। उससे हमारी मानसिक शक्ति पर इतना जोर पहुंचता है कि वह नाश न होती हो तो बिगड़ जरूर जाती है। तोते की तरह हम रटाए जाते हैं, और उसी तरह हम बोलते भी हैं। लड़कों को अँगरेजी मुहावरे के पीछे हैरान न होना चाहिए, क्योंकि अधिकाश मुहावरे बेमतलब और बेमानी हैं। पर वे बेचारे करें क्या ? उनके गुरु तो नहीं मानेंगे। वे तो परीक्षा में उन्हें उत्तीर्ण कराने के हेतु खोज-खोजकर Idioms रटाते हैं। मैं जब मुगेर के जिला-स्कूल में पढता था, तब वहाँ भी एक मास्टर थे, जिन्हें Idioms रटाने की बीमारी थी। उनकी राय थी कि, Idioms याद किए बिना अच्छी अँगरेजी नहीं आती। इसी से वह एक घटा रोज Idioms रटाते थे। आनद की बात है कि मैं उनके पजे से निकल गया, और सकुशल निकला हूँ। मेरे कई सहपाठी तो बिलकुल बेकाम हो गए हैं। उन लोगों ने परीक्षाएँ तो बहुत पास कीं, पर शारीरिक बल उनमें कुछ नहीं है। मेरे साथ दो मुसलमान लडके पढते थे। ये ही फर्स्ट और सेकेंड हुआ करते थे। मेरा नबर बराबर तीसरा रहता था। यह अवस्था पाँचवें दरजे से लेकर एट्रेंस-क्लास तक रही। वे दोनों मुझसे बुद्धि में तीव्र थे, पर परिश्रमी बड़े भारी थे। जो फर्स्ट होता था, वह किताब का कीड़ा हो गया था—दिनरात में कुल तीन-चार घटे सोता था। दोनों ही दुबले, पतले और कमजोर थे। जब कभी फर्स्ट और सेकेंड होने के कारण वे शेखी मारते, तो मैं कहता—"आओ कुश्ती लडलो।" इस पर हँसकर वे चुप हो जाते थे। जो फर्स्ट रहता था, वह एट्रेंस से बी० ए० तक बराबर फर्स्ट डिवीजन

में पास होता गया। एट्रेंस तथा एफ० ए० में उसे छात्र-वृत्ति भी मिली थी। उस समय इन परीक्षाओं के यही नाम थे। बी० ए० पास करने पर वह मुझसे मिला था। वह बहुत कमजोर हो गया था। उसके गले से अकसर ख़ून गिरता था। पीछे वह विलायत चला गया। अब मालूम नहीं, उसकी क्या दशा है, और वह कहाँ है। जो सेकड होता था, वह, अफसोस के साथ कहना पड़ता है, अब दुनिया में नहीं है। ऐंट्रेंस और एफ़० ए० की परीक्षाओं में तो वह पहली बार ही उत्तीर्ण हो गया था, पर, बी० ए० मे आकर अटक गया। रटनेवालों की प्राय यही दशा होती है। तीन-चार बार फेल होकर वह पास हुआ सही, पर उसकी तदुरुस्ती पहले ही जवाब दे चुकी थी। आख़िर वह थोड़े ही दिनों में चल बसा। वहीं एक बी० ए० पास मास्टर थे, जो बहुत अच्छी अँगरेजी लिखते थे, पर उन्हे मैंने नीरोग कभी नहीं देखा। एक-न-एक रोग उन्हें घेरे ही रहता था। छात्रावस्था में अधिक श्रम करने के कारण ही उनकी ऐसी दशा थी। भागलपुर में एक वकील थे। वह राय बहादुर भी थे, पर सदा बीमार रहते थे—बदहजमी के डर से कभी भर पेट नहीं खाते थे। उन्होंने अपने रसोइयों को जायकेदार चरपिरी चीजें बनाने के लिये मना कर दिया था। अच्छी चीजें बनने से ज्यादा खा लेते थे, पर पीछे बीमार हो जाते थे। इसी से उन्होंने ऐसा नियम बना रक्खा था। न स्वादिष्ट भोजन बनेगा, और न ज्यादा खाकर बीमार पड़ेंगे। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर विस्तार-भय से यहीं बस करता हूँ। देखिए, कैसी रक्त चूसनेवाली हमारी युनिवर्सिटियाँ हैं! इनके मारे हमारे बच्चे दिन-पर-दिन दबते चले

जाते हैं। जबतक इनका सुधार न होगा, उन्नति का नाम लेना ही वृथा है। इन युनिवर्सिटियों की तरफ देखकर जब अपने होनहार बच्चों की ओर देखता हूँ, तो होश उड जाते हैं। अँगरेजी पढना ही बुरा नहीं, उसके पढाने की प्रणाली भी बुरी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढने के बदले और घट जाती है। पढनेवालों पर पुस्तकों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं। वे शेर होने के बदले गीदड हो जाते हैं। स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि जिन सज्जनो का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से करते हैं, वे अगर विश्वविद्यालय का मुख देख लेते, तो शायद आज मुझे उनके नाम लेने का भी अवसर हाथ न लगता। यह लेख हिंदी का है, इससे मैंने केवल हिंदी के ही लेखकों और कवियों के नाम लिए हैं, विस्तार-भय से भारत की अन्यान्य भाषाओं के लेखकों के नाम छोड दिए हैं। ये लोग पहली ही मंजिल से ठोकर खाकर लौट आए, इसी से बच गए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के सभी कृतविद्य निकम्मे होते हैं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि उनकी संख्या अधिक है।

हमारा प्रधान उद्देश्य अँगरेजी-भाषा सीखना होना चाहिए, उसका अध्ययन करना नहीं। अँगरेजी-कविता सबको पढने की जरूरत ही क्या है ? क्या हमारी भाषा में कविता नहीं है ? हमारी भाषा का एक-एक शब्द विदेशी भाषा की बडी बडी कविताओं के तुल्य है। हमारे यहाँ आलंकारिक भाव इतने हैं कि कल्पों तक चलेंगे। काव्यों की आवश्यकता उन्हे ही होती है, जो अपनी

अत्यधिक चंचल प्रकृति को शांत और स्वस्थ बनाया चाहते हैं। हम लोगों को तो काव्य की अधिकता ने बिलकुल ढीला तथा प्राणहीन बना डाला है। हमें अगर कुछ जरूरत है, तो उत्तेजना की। वह शिल्प और विज्ञान के रूप में होनी चाहिए। सरल भाषा में शिल्प, विज्ञान, इतिहास और जीवनचरित आदि की पुस्तकें हमें पढाई जानी चाहिए। हमें अंगरेजी-साहित्य नहीं चाहिए, और न हमें उससे कुछ मतलब है।

यदि अंगरेजी-साहित्य पढना ही है, तो हमें एडीसन और गोल्डस्मिथ-जैसों की रचनाएँ पढनी चाहिए—जॉनसन, मेकॉले, स्माइल्स और कारलाइल (Carlyle) की नहीं। पहले दोनों ने पांडित्य दिखाने के लिये शब्दाडंबर तो बहुत किया है, पर उनमें कुछ सार नहीं। पिछले दोनों में कुछ सार है, तो वह कष्ट-कल्पित है। यदि किसीको अंगरेजी-साहित्य सीखने की अभिरुचि है, तो उसके लिये अलग क्लास होनी चाहिए। सबको इसके सीखने के हेतु विवश करना उचित नहीं। केवल अंगरेजी-भाषा सीखने-वालों के लिये शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु और अर्थ-व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से सीखने की जरूरत नहीं। कानों से सुनकर और आँखों से देखकर सीखना चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा सिखाने का ढंग बिलकुल बेहूदा है। यहाँ छ वर्षों में भाषा का ज्ञान होता है और वह भी पूरा नहीं। पर उक्त ढंग से ६ महीने में ही काम बन जाता है। एक जर्मन ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिये उस भाषा का व्याकरण घोंट डाला, कोश रट डाला, स्कूल में जाकर लेक्चर सुन डाला, पर फल कुछ न हुआ। उसकी एक साल की मेहनत यों ही गई। इसके बाद वह सब किताबें फेंककर

फ्रांसीसी लडकों की सगत करने लगा । बस ६ महीने में ही वह उस भाषा में बातचीत करने लग गया । मद्रास के परिया किसी स्कूल में पढने नहीं जाते, पर अँगरेजों के साथ रहकर मजे में अँगरेजी बोल लेते हैं। किसी देश की भाषा सीखने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा लीजिए, पीछे पुस्तकें पढ़िए। बस, आप वह भाषा उस देश के निवासियों की तरह बोलने और लिखने लगेंगे । थोड़े ही दिनों में आप उसमें पारगत हो जायँगे । देखिए, इस ढग से आपका कितना समय बचता है ।

अगर अँगरेजी-भाषा का लेहजा सीखना हो, तो अँगरेजों की सगत कीजिए, और उनकी बातचीत ध्यान से सुनिए। बोलने के समय उनके मुख की ओर ध्यान से देखिए, और उनकी जीभ और होठों की गति का भलीभाँति अवलोकन कीजिए । उच्चारण सीखने का यह बहुत सीधा उपाय है। पर प्रश्न यह है कि हम इतना श्रम करें क्यों ? इससे फ़ायदा ? कुछ भी नहीं । भारत-वासियों को अँगरेजी के लिये इतना श्रम न करना चाहिए । उनके लिए यह अस्वाभाविक काम है । शीत-प्रधान देशवालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती, सर्दी उत्तेजित करती और गरमी दबाती है । सर्दी से फुर्ती आती है, पर गरमी से सुस्ती । सर्दी नसें जकड देती है, और गरमी उन्हें ढीली । जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज ऊँची, तीखी और कर्कश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी । पट्टे की तरह नसें भी गरम मुल्कों में ढीली पड जाती हैं। गरम देशवालों के चमड़े और होंठ सर्द मुल्कवालों के होठों से मोटे होते हैं—सीना

तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मजबूत और तनी होती हैं, उनकी आवाज स्वभाव से कर्कश और बेसुरी होती है, पर जिनकी नसें ढीली है, उनकी आवाज मीठी, सुरीली और धीमी होती है। हमारी वर्णमाला तथा शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हम सब कुछ उच्चारण कर सकते हैं। अँगरेजी-भाषा अनगढ, रूखी, कडी और नीरस है, पर हमारी भाषा कोमल, मधुर, सहज और सरस है। यह पक्षपात नही, सत्य है। हम अँगरेजो की नकल कर सकते हैं, पर इसकी जरूरत ही क्या है? क्या फ्रांसीसी, इटालियन और जर्मन कभी नकल करते हैं? नहीं। फिर हमीं क्यों करें? जो हजम हो सके, वही खाना अच्छा है। हम न भाषा हो हजम कर सकते हैं, और न लहजा ही। इतना सरतोड परिश्रम करने पर भी अँगरेजों की तरह की अंगरेजी लिखनेवाले भारतवर्ष में कितने हैं? मुश्किल से एक दर्जन। जापानियों की तरफ देखिए। वे फ्रांस, जर्मनी और इँगलेंड जाकर भाषा तो सीखते हैं, पर अध्ययन नहीं करते, भाषा सीखकर वहाँ की शिल्पकला की शिक्षा लाभ करते हैं। फिर अपने देश में आकर देशवासियों को अपनी भाषा में शिल्पकला सिखलाते हैं। इसी से जापानी आसानी से सब बातें सीख लेते हैं। अगर अँगरेजी या और किसी विदेशी भाषा में वह शिक्षा दी जाती, तो जापानी कभी नहीं उन्नति कर सकते, बलटे उन्हे औंधे-मुँह गिरना पड़ता। प्राय एक शताब्दी से हम इँगलेंड से शिक्षा पा रहे हैं, विज्ञान और शिल्प की शिक्षा भी पचास साल से मिलती है, पर हम जहाँ-के-तहाँ हैं। जापान ने अल्प समय में जितना सीख लिया है, उसका सौवाँ हिस्सा भी हम इतने दिनों में क्यो नही सीख सके? इसका सबब यह है कि हम सुमार्ग से नहीं चलते। हमारा

समय भाषा के अध्ययन मे ही बीत जाता है, शिल्प और विज्ञान सीखने की नौबत ही नहीं आती।

सच्ची-सी बात यह है कि जापान के हाथ मे जो सब सुबीते और मौके है, वे हमारे हाथ में नही हैं। अगर होते, तो क्या हम कुछ न कर दिखाते ? जरूर कर दिखाते। जापान की ओर देखते हैं, तो लज्जा से गर्दन नीची हो जाती है। हम जहाँ-के-तहाँ खडे हैं, और वह सरपट भाग रहा है। हम दौडें कैसे ? हमारे तो पैरों मे जजीर और सिर पर बोझ है। इँगलेंड पाश्चात्य विज्ञान सिखाने की चेष्टा कर रहा है, पर हम उससे लाभ उठाने में असमर्थ हैं।

मैंने जो कुछ कहा, उसका यह मतलब नहीं कि आज ही सब लडके स्कूल-कॉलेजों से नाम कटवा लें, और हम अँगरेजी का बहिष्कार कर दें। मेरा कहना यही है कि लोग आँखें मूँदकर अँगरेजी न पढें, और न उसके पीछे पागल हो जायँ। बोलने-चालने और लिखने-पढने योग्य अँगरेजी अवश्य सीखें, क्योंकि यह राजभाषा है। इसके जाने बिना हम कोई काम आजकल नहीं कर सकते। हाँ, अध्ययन की आवश्यकता नहीं। जो भाषाविद् होना चाहें, वह कर सकते हैं। सबके लिये इसकी पाबदी न होनी चाहिए। मेरी तुच्छ सम्मति है कि फ्रास, जर्मनी और इँगलेंड की इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान और शिल्पकला-सबधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उलथा हो, और वे पढाई जायं। विश्वविद्यालयों में अँगरेजी गौण भाषा हो, और वह इच्छा पर रहे। उसके पढने के लिये जबरदस्ती न की जाय। जो जिस प्रात का वासी है, उसकी आरभिक शिक्षा तो उसी प्रात की भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा हिंदी में, क्योंकि यह राष्ट्रभाषा सिद्ध हो चुकी है।

हम हिंदीभाषा-भाषी हिंदुओं की आशा और भरोसा माननीय मालवीयजी के हिंदू-विश्वविद्यालय पर था। उसके हिंदी-हीन हो जाने से हिंदू हताश हो हिम्मत हार बैठे हैं*। वहाँ अँगरेज़ी का अटल आधिपत्य अवलोकन कर सब लालसाओं पर पाला पड़ गया है। अब सम्मेलन को सचेष्ट हो सदुद्योग करना चाहिए, जिससे हिंदी में हमारी शिक्षा हो। जब तक मातृभाषा में हमारी शिक्षा न होगी, हम कदापि उन्नति न कर सकेंगे। उन्नति का मूल मंत्र, मातृभाषा में सब विषयों की शिक्षा है।

हिंदी के विषय में मेरा क्या सिद्धांत है, यह सुनाकर इसे समाप्त करता हूँ।

बानी हिंदी भाषन की महरानी,
चंद, सूर, तुलसी-से जामें, कवी भए लासानी।
दीन-मलीन कहत जो याकौं, है सो अति अज्ञानी,
या सम काव्य-छंद नहिं देख्यौं, है] दुनियाँ भर छानी।
का गिनती उरदू-व गल्ला की, भरैं अँगरेजिहु पानी,
आजहुँ याकौं सब जग बोलत, गोरे तुरक जपानी
है भारत की भाषा निहचय, हिंदी हिंदुस्थानी,
"जगन्नाथ" हिंदी-भाषा को, है सेवक अभिमानी

---

* अब वहाँ एम ए तक हिंदी करदी गई है। संपादक

सिंहावलोकन
अर्थात्
गत आठ वर्षों के हिंदी-साहित्य-ससार की समालोचना✻
(पूर्वार्द्ध)

इस सिहावलोकन का काम किसी महावीरसिह को दिया जाता, तो अधिक उपयुक्त होता। पर न जाने क्यों, यह काम मुझे दिया गया है। सिंहावलोकन तो क्या, मैं वदरघुड़की भी नहीं जानता। खैर, जब पंचों की यही राय हुई, तो मैं सिंह का रूप धरकर हिंदीसाहित्य ससार का गत आठ वर्षों का अवलोकन करता हूँ। पर देखना सिंह के तर्जन-गर्जन और लाल-लाल नेत्र देख गालियों की गोलियाँ न चला बैठना।

बाहरी अवस्था

गत आठ वर्षों के हिंदीसाहित्य-ससार की ओर देखता हूँ तो पहले उसकी बाहरी अवस्था पर दृष्टि पडती है। यह अच्छी है, हिंदी का प्रचार दिनोंदिन बढता जा रहा है। प्रत्येक प्रात के लोग इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करते जाते हैं

बंगाल

पहले मैं बगाल की ही बात बताता हूँ। इसके पूर्व बगाली हिंदी को हीन समझते थे, पर अब वह बात धीरे-धीरे कम होती जाती

✻ इंदौर के अष्टम हिंदी साहित्य-सम्मेलन में पढा गया। (सवत् १९७४)

है। "वंदे मातरम्" बनानेवाले वंकिमचंद्र, पुरातत्ववेत्ता राजेंद्रलाल और इतिहास लेखक रमेशचंद्र की बात मैं नहीं कहता। वे लोग तो इसके तरफदार थे ही। मैं आजकल के बंगालियों की बाबत कह रहा हूँ। अब वे भी हिंदी की चर्चा करने लग गए हैं। स्वर्गवासी बाबू रसिकलाल राय 'भारतवर्ष'-नामक बँगला मासिक-पत्र में प्राय हिंदी के विषय में कुछ-न कुछ लिखा करते थे। उन्होंने तृतीय हिंदी-साहित्यसम्मेलन के सभापति की वक्तृता का उलथा उसमें छापा था। पंडित सत्यचरण शास्त्री ने अभी हाल मे कविवर भूषण पर बंगीय साहित्य-सभा में एक प्रबंध का पाठ किया था, जिसे सुनकर माननीय श्रीयुत भूपेंद्रनाथ वसु ने बंगालियों को हिंदी सीखने की सलाह दी थी। अभी कांग्रेस के समय कलकत्ते में जो राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ था, उसमें सब प्रांतों के लोगों का अच्छा जमाव था। सबने एक स्वर से भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। बंगाल के श्रीयुत राय यतींद्रनाथ चौधरी एम० ए०, बी० एल० इसके मंत्री हैं, और हिंदी को ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त मानते हैं। "नायक"-संपादक पंडित पाँचकौडी बंद्योपाध्याय, प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीयुत नगेंद्रनाथ वसु, कविराज ज्योतिर्मय सेन और राय बहादुर यदुनाथ मजुमदार हिंदी-हितैषी हैं। पंडितों में महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण हिंदी के अनुरागी ही नहीं, उसके ज्ञाता भी हैं। वह सूरसागर पढते और सदा हिंदी के पक्ष में ही सम्मति देते हैं।

मद्रास

मद्रास ने भी हिंदी को अपनाया है। स्वर्गवासी वेंकट कृष्ण-स्वामी अय्यर हिंदी को राष्ट्र-भाषा मान चुके हैं। उक्त राष्ट्र भाषा-

सम्मेलन में श्रीयुत एन० सी० श्रीनिवासाचार्य, एम० कृष्णमाचार्य और हिंदुस्थान की "बुलबुल" श्रीमती सरोजिनी नायडू ने राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर हिंदी को ही बिठाया था।

बंबई

बंबई-प्रांत तो हिंदी को बहुत दिनों से राष्ट्र-भाषा मान चुका है। बड़ौदे की हिंदी-परिषद् के सभापति बंबईनिवासी सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सर भंडारकर ने अपने भाषण में कहा था—

"The honour of being made the Common Language for inter-communication between Various Provinces must be given to Hindi There does not seem to be much difficulty to make Hindi accepted by all throughout India"

अर्थात्, भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों की आपस में बातचीत करने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य ही मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने में मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) राव बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य एम० ए० एल एल० बी० ने कहा है—

"Hindi is from every point of View by far the most suitable language to be selected as the lingua franca of India"

अर्थात् हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है। इनके अतिरिक्त भारत के भाल के तिलक

लोकमान्य श्री प० बालगंगाधर तिलक महाराज ने श्रीमुख से हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया है। कलकत्ते के राष्ट्रभाषा सम्मेलन के सभापति होकर आपने जो सार-गर्भ वक्तृता दी थी, वह मनन करने योग्य है। आप केवल व्याख्यान देकर ही नहीं रह गए, बल्कि आपने अपने "मराठा" और "केसरी" पत्रों में हिंदी को स्थान भी दिया है। उनका एक एक कालम हिंदी में रहता है। उनके "मराठा" पत्र ने तो श्रीमती एनी बिसेंट से "निउ इंडिया" में हिंदी को स्थान देने के लिए अनुरोध भी किया है।

गुजरात

गुजरात-प्रांत ने हिंदी के लिये जो किया है, वह किसी ने नहीं किया है। मैं स्वामी दयानंद सरस्वतीजी की बात नहीं कहता, जिन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिंदी में रचकर उसके प्रचार का द्वार खोल दिया है, क्योंकि यह ८ वर्ष पहले की बात है। मै श्रीमान् कर्मवीर मोहनदास कर्मचंद गाँधीजी का शुभ नाम ले रहा हूँ, जिन्होंने आज हमारे सम्मेलन की शोभा बढ़ा सभापति का आसन ग्रहण किया है। श्रीमान् गाँधीजी की कृपा से ही कांग्रेस में हिंदी की तूती बोलने लगी है। लोगों के लाख कहने पर भी श्रीमान् अँगरेजी में न बोलकर हिंदी में ही बोले थे। श्रीमान् ने ही लोकमान्य तिलक महाराज का ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित किया था। फल यह हुआ कि लोकमान्य ने भी स्वराज्य का व्याख्यान हिंदी में दिया, और 'मराठा' तथा 'केसरी' के कालमों में हिंदी का स्थान मिला। गुजरात-प्रांतीय साहित्य-परिषद् ने श्रीमान् गाँधी जी की अध्यक्षता में हिंदी को राष्ट्रभाषा माना, और अब उसका प्रचार

करना ठाना है। सब कोई कर्मवीर गांधीजी की तरह हिंदी में बोलने लग जायँ, तो सहज ही हिंदी का प्रचार सर्वव्यापी हो जाय।

सिंध और पंजाब

आर्यसमाज और सनातनधर्म-सभा के प्रभाव से सिंध और पंजाब में भी हिंदी का प्रचार होता जाता है, पर अभी जैसा चाहिए, वैसा नहीं है। इस समय जितना है, वही बहुत है।

युक्तप्रांत और बिहार

युक्तप्रांत और बिहार हिंदीभाषी प्रदेश हैं, पर दुःख है वे राह भूलकर भटक गए। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई है। वे राह पर आ रहे हैं। भविष्य अच्छा दिखलाई दे रहा है।

अदालत

अदालतों में नागरी का तो कुछ-कुछ प्रवेश हुआ है, पर हिंदी भाषा का बिल्कुल नहीं। इसके लिये विशेष उद्योग होना चाहिए।

रजवाड़े

रजवाड़ों में भी हिंदी की घुसपैठ होती जाती है। बड़ौदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर, और रीवाँ आदि के नरेशों ने राष्ट्र-भाषा हिंदी का आदर कर दूरदर्शिता का काम किया है। श्रीमान् इंदौर-नरेश के हिंदी प्रेम के कारण ही आज हम लोग यहाँ एकत्र हुए, और यह समारोह देख रहे हैं। श्रीमान् हिंदी के लिये प्रतिवर्ष जो उदारता दिखाते हैं, वह अन्यान्य नृपतिगण के लिये अनुकरणीय है।

मुसलमान

कलकत्ता-हाइकोर्ट के भूतपूर्व जज मिस्टर हसन इमाम-जैसे मुसलमान भी हिंदी के हिमायती हैं। मध्यप्रदेश के मौलवी सैयद

अमीर अली 'मीर' हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक और कवि भी हैं। बेतिया के मुहम्मद पीर मूनिस, और मुजफ्फरपुर के मियाँ लतीफ़ हुसेन भी हिंदी लिखते-पढते हैं।

सिविलियन

बिहार-प्रांत के पटने के कमिश्नर मि० सी० ई० ए० डब्ल्यु-ओलधम हिंदी के बड़े हितैषी हैं। आरा-नागरीप्रचारिणी-सभा के उद्योग और आपकी कृपा से अदालत के कागज-पत्र कैथी के बदले अब नागरी में छपने लगे हैं।

विरोधी

हिंदी के हिमायती ही हैं, विरोधी नहीं, ऐसा नहीं है। विरोधी भी हैं, और वे हिंदुस्थान के निवासी तथा हिंदू हैं, पर नगण्य हैं। इंदौर का मराठी "मल्हारिमार्तण्ड" प्रचंडता के साथ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का विरोध कर रहा है। उसके कथन का सार यही है कि हिंदी-भाषा दीन, हीन एवं नवीन है, और उस का साहित्य भी समीचीन नहीं। वह कई "बाजुओं" से हिंदी को राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। आनंद की बात यह है कि दैनिक "भारतमित्र" युक्तियुक्त मुँहतोड़ उत्तर देकर इसके बाजू तोड़ता जाता है। इसलिये इस विषय में कुछ विशेष कहने की मुझे आवश्यकता नहीं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि हिंदी को कोई राष्ट्रभाषा नहीं बनाता है, वह अपने गुणों से स्वयं बन गई और बनती चली जा रही है। उसे कोई राष्ट्रभाषा चाहे न माने, पर वह राष्ट्रभाषा का काम कर रही है। मैं हिंदी-भाषा-भाषी हूँ, इसलिये यह कह रहा हूँ, ऐसा मत समझिए। जिनका हिंदी से कोई संबंध नहीं, वे भी यही बात कहते हैं। सात समुद्र

पार रहनेवाली परम विदुषी श्रीमती एनीबिसेंट अपने "नेशनबिल्डिंग"-नामक पुस्तक में कहती हैं—

"Among the Various Vernaculars that are spoken in the different parts of India, there is one that stands out strongly from the rest, as that which is most widely known It is Hindi A man who knows Hindi can travel over India and find every where Hindi speaking people In the north it is the vernacular of a large part of the population and a large additional part, who do not speak Hindi, speak language so closely allied to it that Hindi is acquired without diffiulty"

अर्थात्, भारत की जितनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी के ही समझनेवाले अधिक हैं। हिंदी जाननेवाला भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक चला जाय, उसे सब जगह हिंदी बोलनेवाले मिलेंगे। उत्तरीय भारत में हिंदी बोलनेवाले अधिक हैं। जो हिंदी नहीं बोलते, वे हिंदी से मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं, जिससे उन्हे हिंदी सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती।

बात भी यही है। देशी ही नहीं, विदेशी भी सहज ही हिंदी सीख कर बातचीत करने लग जाते हैं। हलक से बोलनेवाले अरब, और चीं-चीं करनेवाले चीनी यहाँ आकर किस भाषा में मन के भाव प्रकट करते हैं? जो अँगरेजी नहीं जानते, वे हिंदी से ही काम चलाते हैं। योरप-निवासी हिंदुस्थान आकर बावर्ची खानसामों से किस भाषा में बोलते हैं? हिंदी में। सेतुबंध रामेश्वर, द्वारका

बदरिकाश्रम और जगन्नाथपुरी के पडे अन्य प्रांतों के यात्रियों से हिंदी में ही बातचीत करते हैं। फिर हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं, तो और कौन-सी राष्ट्रभाषा है ? यह मेरी ही नही, भारत के सुपुत्र स्वर्गवासी रमेशचद्र दत्त की भी यही सम्मति है । बडोदे की "हिंदी-परिषद" मे उन्होंने कहा था—"If there is a language which will be accepted in a larger part of India, it is Hindi."

अर्थात्, भारत के अधिकांश भाग में यदि कोई भाषा स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदी ही है।

बाकी रही दीन-हीन साहित्य की बात । उसके विषय में अपनी ओर से कुछ न कह पुरातत्ववेत्ता परलोकवासी डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र LL D सी० आई० ई० की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। मित्र महोदय "इण्डो एरियस" (Indo Aryans) नाम की पुस्तक में लिखते है—

"The Hindi is by far the most important of all the vernacular dialects of India It is the language of the most Civilised portion of the Hindu race Its history is traceable for a thousand years, and its literary treasures are richer and more extensive than of any other modern Indian dialect, Telegu excepted"

तात्पर्य यह है कि भारत की भाषाओं में हिंदी बड़े ही काम की भाषा है। यह हिंदुओं मे सबसे अधिक सभ्य लोगो की भाषा है। इसके इतिहास का पता हजार वर्ष तक लगता है । तेलगू भाषा को

छोड भारत की और सभी आधुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भाडार अधिक वैभवशाली और विस्तृत है। हिंदी की प्राचीनता के विषय में बगाल के सिविलियन मिस्टर जॉन बीम्स (Mr John Beames) अपनी पुस्तक Comparative Grammar of the modern Aryan Languages of India की भूमिका में लिखते हैं—"Hindi represents the oldest and most widely diffused form of Aryan speech in India In respect of Tadbhavas Hindi stands pre eminent"

अर्थात्, भारतवर्ष में आर्यों की सबसे प्राचीन और प्रचलित भाषा हिंदी है। इसमें तद्भव शब्द सभी भाषाओं से अधिक हैं।

रेवरेंड केलाग (Rev kellogg) अपने हिंदी व्याकरण की भूमिका में मराठी, गुजराती, बँगला, पजाबी, सिंधी और उड़िया भाषाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं—' of these in order of antiquity Hindi stands first"

अर्थात्, प्राचीनता के विचार से इनमें हिंदी ही प्रथम है।

मिस्टर एच टी कोलब्रूक ने (Mr H T Colebrooke) 'एशियाटिक रिसर्चेज' (Asiatic Researches) के सातवें भाग में लिखा है —"On the subject of the modern dialects of upper India, I, with pleasure, refer to the works of Mr Gilchrist, whose laboure have now made it easy to acquire the knowledge of an elegant language, which is used in every part of Hindustan and the Deccan, which is the common vehicle of colloquial intercourse among all well—

educated natives, and among the illiterate also in many provinces of India and which is almost everywhere intelligible to some among the inhabitants of every village. The same tongue, under its more appropriate denomination of Hindi, comprehends many dialects strictly local and provincial"

अभिप्राय यह कि उत्तर-भारत की वर्तमान बोली के बारे में मैं प्रसन्नता के साथ गिलक्राइस्ट साहब की पुस्तकों का उल्लेख करता हूँ। जिस बोली का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रांत में होता है, उसके सीखने का सहज उपाय उन्होंने परिश्रम से कर दिया है। यह पढ़े-लिखे तथा अपढ़, दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है, और इसे प्रत्येक ग्राम के थोड़े-बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं। इसका उपयुक्त नाम हिंदी है। इसमें अनेक प्रकार की स्थानीय और प्रांतीय बोलियाँ मिली हुई हैं।

कविवर लल्लूलालजी से "प्रेमसागर" नाम की प्रचलित हिंदी की प्रथम पुस्तक बनवानेवाले डाक्टर गिलक्राइस्ट (Dr Gilchrist) कहते हैं—"The language at present best known as the Hindustanee, is also frequently denominated Hindee, Urdu and Rekhta It is compounded of the Arabic, Persian and Sanskrit or Bhakha which last appears to have been in former ages the current language of Hindustan. याने जो भाषा आज, हिंदुस्थानी के नाम से प्रसिद्ध है, वही हिंदी,

उर्दू और रेखता भी कहलाती है। इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत या भाखा के शब्द मिले हुए हैं। प्राचीन समय में यह 'भाखा' ही हिंदुस्थान की प्रचलित भाषा थी।

हिंदी को पहले लोग "भाषा" या भाखा ही कहा करते थे। इसका प्रमाण तुलसीकृत रामायण में है। यथा—

'नाना पुराण निगमागमसम्मत यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।"

फिर देखिए—

"भाखा भनिति भोरि मति मोरी,
हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी।"

आजकल भी संस्कृत के बहुतेरे पंडित हिंदी को "भाखा" ही कहते हैं।

सन १९०१ ई० की मनुष्य-गणना के विवरण में लिखा है—

"In themselves, without any extraneous help whatever, the dialects from which it (Hindi) is sprung are, and for five hundred years have been, capable of expressing with crystal clearness any idea which the mind of man can conceive It has an enormous native vocabulary and a complete apparatus for the expression of abstract terms Its old literature contains some of the highest flights of poetry and some of the most eloquent expressions of religious devotion which have found their birth in Asia Treatises on philosophy and on rhetoric are found in it, in which

the subject is handled with all the subtlety of the great sanskritwriters and has hardly the use of a sanskrit word"

इसका सार यह है—

जिन (वैदिक) बोलियों से स्वतन्त्रता-पूर्वक किसी सहायता के विना हिंदी-भाषा बनी है, वे ५०० वर्ष से मनुष्य के सब भाव सुस्पष्ट रूप से प्रकाश करने की शक्ति रखती आई है। हिंदी का वृहत् शब्द भाण्डार स्वतंत्र है। कठिन-से-कठिन या दुरूह-से-दुरूह शास्त्रीय परिभाषाओं के प्रकाश करने की इस भाषा में पूरी सामग्री है। इसके पुराने साहित्य में सर्वोच्च कविता और धर्म-संबधी ग्रंथ विद्यमान् हैं। दर्शन और अलंकार के ग्रंथ भी इसमें पाए जाते हैं। विचित्रता तो यह है कि इन कठिन विषयों पर ऐसे ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें केवल हिंदी के ही शब्द व्यवहृत हुए हैं।

भला जिस भाषा में "पृथ्वीराज रायसा"-सा प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य, 'सूरसागर'-सा भक्तिरस-पूर्ण काव्य, तुलसी-कृत रामायण-सा नवरस-पूर्ण महाकाव्य, 'विहारी-सतसई'-सा शृंगाररस-प्रधान कमनीय काव्य और शिवराजभूषण-सा वीररस-प्रधान काव्य ग्रंथ हैं वह कभी दीन, हीन और नवीन हो सकती है। जिस भाषा में नानक, कबीर, गुरुगोविंद, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि महात्माओं की उपदेशमयी वाणी विद्यमान है, यदि वही दीन-हीन है, तो पीन और समीचीन कौन होगी? वेदांत, वैद्यक, शालोतर आदि के जितने ग्रंथ हिंदी में हैं, उतने और किस भाषा में हैं? संस्कृत-साहित्य का सार निकालकर हिंदी में रख दिया गया है। हाँ, एक बात का अभाव हिंदी में अवश्य है। वह है अँगरेजी का उच्छिष्ट।

यदि इसी से हिंदी दरिद्र हो, तो हो सकती है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि अब इसका भी अभाव नहीं रहेगा।

यह बात तो निर्विवाद है कि हिंदी प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ भाषा है। पर इधर सौ वर्षके भीतर और-और प्रांतीय भाषाओं ने जैसी उन्नति की, हिंदी वैसी क्या, कुछ भी न कर सकी, क्योंकि फारसी ने इसकी राह रोक दी। अन्यान्य भाषाएँ तो उन्नति के मैदान में स्वच्छंदता-पूर्वक दौडती चली गई, और यह जहाँ-की-तहाँ खडी रह गई। इसका भी कारण है।

मिस्टर ब्लौकमेन (Mr Blochman) बादशाही दरबार की बातों के बडे जानकार समझे जाते हैं, और उनकी बातें "बावन तोले पाव रत्ती" मानी जाती है। उन्होंने सन् १८७१ ई० के "कलकत्ता रिविउ" (Calcutta Review) में "The Hindu Rajas under the moghuls"-शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें वह कहते हैं—

"Both Hindus and Mohammadans spoke the same vernacular viz Hindi or as it was then called Hindwi

The collection of the revenue and the management of the estates were almost exclusively in the hands of the Hindus, and hence all accounts whether private or public were kept in Hindi

They (the Dustur-ul-amals) are unanimous in affirming that from the earliest times up to

the middle of Akbar's reign, all Government accounts were kept in Hindi. (P 317)

इससे मालूम होता है कि हिंदू और मुसलमान, दोनों ही हिंदी या हिंदवी बोलते थे, और सरकारी हिसाब-किताब हिंदी में ही रखते थे। क़ुतुबउद्दीन से लेकर अकबर के राजत्वकाल के मध्य तक अदालत और माल के कागज-पत्र हिंदी में ही रहे। पीछे दुर्भाग्य-वश टोडरमल ने माल का नया तरीक़ा चलाकर हिंदुओं को फ़ारसी पढ़ने को लाचार किया। बस, टोडरमल के समय से ही हिंदी की गति रुकने लगी। यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज हिंदी किसीसे किसी बात मे पीछे न रहती। इतने पर भी हिंदी-साहित्य का महत्व बना ही हुआ है। जिस बँगला-साहित्य को लोग आजकल बहुत उन्नत और विस्तृत समझकर उसकी दुहाई देते हैं, उसी के प्रवर्तक, सुलेखक और सुकवि बैकुंठवासी राय बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय बहादुर अपने "बंग-दर्शन"-नामक मासिक पत्र के पाँचवें खंड मे बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—"इंगराजी भाषा द्वारा जाहा हउक किंतु हिंदि शिक्षा न करिले कोनो क्रमेई चलिबे ना। हिंदि भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बांगला ओ इंगराजी चर्चाय हइबेना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिले बांगला ओ इंगराजी कय जन लोक बोलिते वा बुझिते पारेन? बांगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदि भाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करिते पारिबेन ताँहाराई प्रकृत भारतबंधुनामें अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।"

अर्थात्, अँगरेजी भाषा से चाहे जो हो, पर हिंदी सीखे बिना किसी तरह काम न चलेगा। हिंदी-भाषा में पुस्तकें लिखकर और वक्तृताएँ देकर भारत के अधिकाश स्थान का कल्याण कीजिए। केवल बँगला और अंगरेजी से काम न होगा। भारत के अधिवासियों मे से कितने मनुष्य बंगला और अंगरेजी समझ या बोल सकते हैं? बँगला की तरह हिंदी की उन्नति नहीं हो रही है, यह देश का दुर्भाग्य है हिंदी-भाषा की सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों को एकता के बधन से जो बाँध सकेंगे, वे ही सच्चे भारतबंधु कहे जाने योग्य हैं। सब कोई चेष्टा कीजिए, यत्न कीजिए, चाहे जय हो, मनोरथ पूर्ण होगा।

बबई से निकलनेवाले "राष्ट्रमत" का भी यही मत था। उसके ता० २०-८-१९०९ के अक मे लिखा है—"Hindi is not to make encroachment on the vernacular of the province but is to be learnt as a national necessity"

अर्थात्, हिंदी किसी प्रांत की भाषा का स्थान छीनने के लिये नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय आवश्यकता के कारण उसे सीखना चाहिए।

इन सब की राय तो यह है, पर "मल्हारिमार्तंड" के सपादक महाशय दूसरा ही राग अलापते हैं। वह एस्पराटो भाषा से हिंदी की तुलना कर इसे राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त बतलाते हैं। इसमें उनका कुछ दोष नहीं, क्योंकि—

जाके मति भ्रम होइ खगेसा,
सो कह पच्छिम उगहिं दिनेसा।

"मल्हारिमार्तंड" के विद्वान् सपादक समझते हैं, और लोगों को समझाते भी हैं कि हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने से मराठी, गुजराती,

तथा बँगला आदि भाषाओं की हानि होगी, क्योंकि उनका स्थान हिंदी ले लेगी। पर यह उनकी भूल है। वह सचमुच भूलते हैं या जान बूझकर भूलते हैं, यह अभी नहीं कहा जा सकता, पर भूलते जरूर हैं। अगर न भूलते होते, तो ऐसी बात मुँह से न निकालते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने का उद्देश्य यह नहीं कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले ले और उन्हें हानि पहुँचावे। इसका उद्देश्य यही है कि सब कोई अपनी-अपनी मातृभाषा सीखें, और उसकी उन्नति करें, पर हिंदी भी सीखें, जिससे मद्रासी और पंजाबी या मराठे और बंगाली जब मिलें, तो विदेशी भाषा में न बोलकर देशी भाषा में बोलें। अपने देश में अपने भाइयों से अपनी ही भाषा में बोलने से अपनापन अधिक प्रकट होता है। हिंदी प्रांतीय भाषाओं का स्थान न ले अंगरेजी का लेना चाहती है, अर्थात् जो काम अँगरेजी से निकाला जाता है, उसे हिंदी से ही निकालना चाहिए। जब अँगरेजी से प्रांतीय भाषाओं की हानि नहीं हुई तो उसी स्थान पर हिंदी के पहुँच जाने से कैसे होगी? हिंदी तो उन्हें प्रांतीय स्वराज देती है। वह अपने-अपने प्रांत में फूलें-फलें और दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करें। हिंदी उसमें बाधा नहीं डालती। फिर हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में प्रांतीय भाषाओं की कैसी हानि होगी, यह "मल्लारिमार्तंड" के प्रचंड संपादक ही जानें। मालूम होता है, ऐसे ही लोगों को राह पर लाने के लिये प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष ने अपने "धर्म"-नामक साप्ताहिक पत्र में लिखा था—"भाषाभेदे आर बाधा हइवेना, सकले स्व स्व मातृभाषा रक्षा करिया ओ साधारण भाषारूपे हिंदि भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय विनष्ट करिब।" अर्थात्, भाषा-भेद के कारण और अड़चल

न होगी। हम लोग अपनी-अपनी मातृ-भाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा की भाँति हिंदी भाषा ग्रहण कर यह भेद-भाव नष्ट कर डालेंगे।

मैं समझता हूँ, इस युक्ति से संपादक महाशय का भारी भ्रम भग जायगा।

संपादक महाशय को भय है कि हिंदी के लिये आन्दोलन करने से मुसलमान विरोध करेंगे। फिर मेल के बदले हिंदू-मुसलमानों में बिगाड़ हो जायगा। इसलिये हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग न करना चाहिए। यह बात बिलकुल फालतू है, क्योंकि हम उर्दू का विरोध नहीं करते, और न उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा ही मानते हैं। यह तो हिंदी का रूपांतर-मात्र है। उर्दू में से हिंदी की क्रियाएँ और सर्वनाम निकाल लिये जाँय, तो वहाँ क्या रह जायगा। उर्दू हिंदी के बिना जी नहीं सकती, और न हिंदी उर्दू को छोड़ सकती है। हिंदी-उर्दू के बारे में मि० बीम्स (Mr Beames) क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—

"The grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow therefore that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect"

याने, उर्दू-हिंदी का व्याकरण एक ही है। इससे उर्दू हिंदी है, और आर्य भाषा है।

उर्दू-फ़ारसी के आलिम, "भारतमित्र" के भूतपूर्व संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त 'हिंदी-भाषा' नाम की पुस्तिका में लिखते हैं—

तथा बँगला आदि भाषाओं की हानि होगी, क्योंकि उनका स्थान हिंदी ले लेगी। पर यह उनकी भूल है। वह सचमुच भूलते हैं या जान बूझकर भूलते हैं, यह अभी नहीं कहा जा सकता, पर भूलते जरूर है। अगर न भूलते होते, तो ऐसी बात मुँह से न निकालते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने का उद्देश्य यह नहीं कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले ले और उन्हें हानि पहुँचावे। इसका उद्देश्य यही है कि सब कोई अपनी-अपनी मातृभाषा सीखें, और उसकी उन्नति करें, पर हिंदी भी सीखें, जिससे मद्रासी और पंजाबी या मराठे और बंगाली जब मिलें, तो विदेशी भाषा में न बोलकर देशी भाषा में बोलें। अपने देश में अपने भाइयों से अपनी ही भाषा में बोलने से अपनापन अधिक प्रकट होता है। हिंदी प्रांतीय भाषाओं का स्थान न ले अँगरेजी का लेना चाहती है, अर्थात् जो काम अँगरेजी से निकाला जाता है, उसे हिंदी से ही निकालना चाहिए। जब अँगरेजी से प्रांतीय भाषाओं की हानि नहीं हुई तो उसी स्थान पर हिंदी के पहुँच जाने से कैसे होगी? हिंदी तो उन्हें प्रांतीय स्वराज देती है। वह अपने-अपने प्रांत में फूलें-फलें और दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करें। हिंदी उसमें बाधा नहीं डालती। फिर हिंदी के राष्ट्रभाषा होने से प्रांतीय भाषाओं की कैसी हानि होगी, यह "मल्लारिमार्तंड" के प्रचंड संपादक ही जानें। मालूम होता है, ऐसे ही लोगों को राह पर लाने के लिये प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष ने अपने "धर्म"-नामक साप्ताहिक पत्र में लिखा था—"भाषाभेदे आर बाधा हइबेना, सकले स्व स्व मातृभाषा रक्षा करिया ओ साधारण भाषारूपे हिंदि भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय विनष्ट करिब।" अर्थात, भाषा-भेद के कारण और अड़चन

न होगी। हम लोग अपनी-अपनी मातृ-भाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा की भाँति हिंदी भाषा ग्रहण कर यह भेद-भाव नष्ट कर डालेंगे।

मैं समझता हूँ, इस युक्ति से संपादक महाशय का भारी भ्रम भग जायगा।

संपादक महाशय को भय है कि हिंदी के लिये आन्दोलन करने से मुसलमान विरोध करेंगे। फिर मेल के बदले हिंदू-मुसलमानों में बिगाड़ हो जायगा। इसलिये हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग न करना चाहिए। यह बात बिलकुल फालतू है, क्योंकि हम उर्दू का विरोध नहीं करते, और न उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा ही मानते हैं। यह तो हिंदी का रूपांतर-मात्र है। उर्दू में से हिंदी की क्रियाएँ और सर्वनाम निकाल लिये जाँय, तो वहाँ क्या रह जायगा। उर्दू हिंदी के बिना जी नहीं सकती, और न हिंदी उर्दू को छोड़ सकती है। हिंदी-उर्दू के बारे में मि० बीम्स (Mr Beames) क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—

"The grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow therefore that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect"

याने, उर्दू-हिंदी का व्याकरण एक ही है। इससे उर्दू हिंदी है, और आर्य भाषा है।

उर्दू-फारसी के आलिम, "भारतमित्र" के भूतपूर्व संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त 'हिंदी-भाषा' नाम की पुस्तिका में लिखते हैं—

"वर्तमान् हिंदी-भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, और वहीं उसका नाम हिंदी रक्खा गया। आरंभ में उसका नाम रेख़्ता पड़ा था। बहुत दिनों तक यही नाम रहा। पीछे हिंदी कहलाई। कुछ और पीछे इसका नाम उर्दू हुआ, अब फारसी वेष में अपना उर्दू नाम ज्यों-का-त्यों बनाए रखकर देवनागरी-वस्त्रों में हिंदी-भाषा कहलाती है। इस समय हिंदी के दो रूप हैं—एक उर्दू, दूसरा हिंदी। दोनों में केवल शब्दों ही का भेद न हीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते। यदि आदि से फारसी-लिपि के स्थान मे देवनागरी रहती, तो यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एकहोने से भेद मिट सकता है।"

हमारे मुसलमान भाई इनकी बात पर चाहे ध्यान न दें, पर शमशुलउलेमा मौलवी सैयद हुसेन बिलग्रामी की बात पर जरूर ध्यान देंगे, क्योंकि यह उनके जाति भाई हैं। जनाब बिलग्रामी साहब "La Civilizatione Des Arabes"-नामक पुस्तक के अनुवाद की उपक्रमणिका में लिखते हैं—

"It is a well-known fact that the Urdu belongs to the family of language known as the Aryan + + +

Thus the Hindi ground-work of the Urdu language has come from one or more of these Prakrits, only a few of the words having been taken direct from sanskrit ++++ My chief object in entering on this discussion is to prove

that while it is our duty to prevent any large importations of foreign words into the Urdu language, it is also our duty to devisemeans for lightening the labour and difficulty of reading the Urdu character"

अर्थात्, यह बात सबको भली भाँति मालूम है कि उर्दू आर्य-भाषाओं से बनी है × × × इस प्रकार उर्दू की जड में हिंदी भाषा का जितना अंश है, वह इन्हीं प्राकृत भाषाओं में किसी एक या अनेक से निकली है। हाँ, केवल कुछ शब्द सीधे संस्कृत से भी लिए गए हैं। × × × इस विषय के विचार में प्रवृत्त होने का मेरा मुख्य उद्देश्य यही सिद्ध करना है कि उर्दू-जबान में विदेशी शब्दों को अधिकता के साथ मिलने न देना हमारा जैसे कर्तव्य है, वैसे ही उर्दू-हुरूफ़ पढने में जो परिश्रम और कठिनाई पडती है, उसके घटाने के लिए उपाय निकालना भी हमारा कर्तव्य है।

कलकत्ते की हिंदीसाहित्य-परिषद् के वार्षिकोत्सव पर कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज जनाब सैयद हसन इमाम साहब ने मीर-मजलिस की हैसियत से जो वक्तृता दी थी, वह भी सुन लीजिए। आप फ़रमाते हैं—"कुछ लोगों ने हिंदी-उर्दू का झगडा खड़ाकर रक्खा है, पर यह बेकायदा है। मेरी राय से हिंदी हिंदुओं ही की नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्थान की जबान है। अरबवाले यहाँ के मुसलमानों को हिंदी ही कहते हैं। फिर हिंदी की तरक्की के लिये कुछ किया जाय, तो मुसलमानों की नाराजगी की कोई वजह नहीं देखता। और जबानें एक-एक सूबे की हैं, पर हिंदी हिंदुस्थान की जबान है। उर्दू भी यहाँ बनी है। मुसलमान उसे अरब से नहीं लाए।

इसलिये मुसलमानों को हिंदी से नफरत न करनी चाहिए, बल्कि हिंदुओं से मिलकर उसकी तरक्की करनी चाहिए।"

मैं समझता हूँ, "मल्लारिमार्तंड" के संपादक के दिल में मुसलमानों के हिंदी-विरोध का डर अब घर न करेगा। और, मुसलमान भाई भी उर्दू-हुरूफ के बदले नागरी-अक्षरों से काम लेने लग जायँ, तो लिखने-पढ़ने में सुबीता हो, तथा हिंदी-उर्दू का बखेड़ा भी मिट जाय। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि हिंदी-उर्दू के विरोधियों को वैर-विरोध बढ़ाने का फिर बहाना ही न मिलेगा।

अच्छा, अब फिर अवलोकन आरंभ होता है।

पत्र-पत्रिकाएँ

इधर आठ वर्षों मे मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं की खूब ही उन्नति हुई। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा शिक्षा, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शिल्प-संबंधी पत्र निकलते हैं।

पुरुषों के, स्त्रियों के तथा बालकों और बालिकाओं के अलग-अलग पत्र हैं, दु ख है, बुड्ढों के लिये अभी कुछ नहीं निकला। गत आठ वर्षों के भीतर ही हिंदी के कई दैनिक पत्र निकले, जिनमें चार तो सुचारु रूप से चल रहे हैं। बाक़ी कालकवलित हो गए। इन चार दैनिकों मे तीन तो हमारे कलकत्ते से ही निकलते हैं, और एक बंबई से। कलकत्ते से एक पद्यमय पत्र भी प्रकाशित होने लगा है जो साप्ताहिक की श्रेणी में सुशोभित है।

यहाँ की बात जाने दीजिए, दक्षिण आफ्रिका से भी दो हिंदी-पत्र निकलते हैं—एक का नाम "धर्मवीर", और दूसरे का शायद "हिंदुस्थानी" है।

पुस्तक

विविध विषयो की पुस्तकें भी धडाधड़ निकलती जाती हैं। निकलती ही नहीं, उनका प्रचार भी बढता जाता है। पहले पुस्तकों की छपाई और कागज रद्दी होते थे, पर अब तो उनकी छपाई, सफाई, बँधाई, कटाई, भँजाई और कागज की चिकनाई की बडाई किए बिना नहीं रहा जाता। पुस्तक-प्रकाशन मे इधर अच्छी उन्नति हुई।

अलंकृत

पंडित गौरीशकर भट्ट ने देवनागरी लिपि को अलकृत करने की कला का पुनरुद्धार किया है। वेलबूटदार, टेढे-मेढे अनेक प्रकार के अक्षर उन्होंने बनाए हैं, जिनके द्वारा अक्षरों से फूल-पत्ते, और फूल-पत्तों से अक्षर बन जाते हैं। इससे देवनागरी लिपि का बहुत-कुछ महत्व चढ गया है।

नाटक मडली

कलकत्ता, आरा, काशी, प्रयाग, भरतपुर, खडवा आदि नगरों में नाटक-मडलियाँ स्थापित हो गई हैं, जिनमें शुद्ध हिंदी के नाटक उत्तमता से खेले जाते हैं। ये मडलियाँ पैसे पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि हिंदी-साहित्य का प्रचार करने के लिये अभिनय करती हैं।

सभा-समिति

सभा-समितियों का बाजार भी खूब गरम है। जहाँ देखो, वहीं हिंदी का पुस्तकालय, वाचनालय, सभा, समिति, परिषद् और मडल स्थापित हो रहे हैं। सभी का लक्ष्य हिंदी का प्रचार और उसके साहित्य की उन्नति है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्यसम्मेलन बंग, बिहार, युक्त-प्रांत तथा मध्यप्रदेश मे विजय वैजयंती उड़ाता यहाँ मध्यभारत में आ पहुँचा है। आशा है, यहाँ से राजस्थान मे अपना राज-स्थापन करता हुआ पंजाब पार कर काश्मीर पर कब्जा करेगा।

इधर प्रांतीय सम्मेलन का अधिवेशन आरंभ हो गया और उधर 'दक्षिणआफ्रिका-हिंदीसाहित्य-सम्मेलन" के समारोह का समाचार भी आ पहुँचा है।

विविध

गत आठ वर्षों में दो बातें बड़े मार्के की हो गई जिन पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। एक तो हिंदी साहित्यसेवियो के समीप श्रीभारतधर्म महामंडल के कमंडल से उपाधियो का बंडल पहुँचना, और दूसरी नए नोटों पर से नागरी का निकाला जाना।

हिंदू-विश्वविद्यालय को बनते देख हिंदुओ को हिम्मत हुई थी, पर उसे हिंदी हीन होते देख वह हताश हो गए। हिंदू हठयोग का प्रयोग करें, तो शायद माननीय मालवीयजी महाराज के मान जाने से अभिलाषा पूर्ण होने की पूरी आशा है।

इन बातों के देखने से हिंदीसाहित्य-संसार की बाहरी दशा संतोषजनक प्रतीत होती है।

भीतरी दशा

इसके बाद भीतरी दशा पर दृष्टि जाती है। इसे देखने, ही आँखें लाल हो आती हैं, क्रोध से शरीर काँपने लगता है। जी यही

चाहता है कि हिंदी-साहित्य के संहार करने वालों के सिर पजे से गजे कर दिए जाय, पर मसोस कर रह जाना पड़ता है, क्योंकि सिंह को केवल अवलोकन करने का ही अधिकार मिला है, और कुछ करने का नहीं। इसलिये अवलोकन ही करता हूँ। बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी ही बुरी। यहाँ ईर्ष्या-द्वेष, हठ-दुराग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचडी अलग पका रहे हैं। कोई तीर-घाट जाता है, तो कोई मीर-घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है, तो कोई कोष का कायाकल्प। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है, तो कोई काव्य कलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्ण-विन्यास का विपर्यय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश करता है। उल्था करने में भी उलट-पलट का चर्खा चलता है। बगाल की बू, मराठी की महक और गुजराती की गध से हिंदी के होशहवास गुम है। अँगरेजी के अंधड़ ने तो और भी आफत ढाई है। मुहावरों का मूड इस तरह मूडा जाता है कि उन्हे मुँह दिखाने का मौका नहीं है। नाटक का फाटक बद है, पर उपन्यास का उपद्रव बढ रहा है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खडी बोली खड़ी करता है, और कोई ब्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी-जान से करता है। कोई सस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बरात में सभी ठाकुर हैं। ऐसी अवस्था में यहाँ का अवलोकन विशेषरूप से करना कर्तव्य है। इसलिये अब वही करता हूँ।

पद्य

साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य। गद्य की ओर गमन न कर पहले पद्य की ओर ही प्रस्थान करता हूँ। पद्य आजकल हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—व्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू।

खड़ी बोली और उर्दू में अंतर यही है कि पहली में संस्कृत और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अरबी-फ़ारसी के। इन दोनों की गढ़न एक ही है, इसलिये इन्हें एक ओर रखता हूँ। व्रजभाषा की चाल निराली है। इससे उसे दूसरी ओर रखता हूँ। खड़ी बोली और व्रजभाषा में खूब चोचें चल रही हैं। खड़ीबोली-वाले कहते हैं व्रजभाषा मृत भाषा है। इसके समझनेवाले नहीं हैं, इसमें कविता न होनी चाहिए, गद्य-पद्य की भाषा दो न होकर एक ही हो, तो अच्छा। इससे लाभ यह होगा कि हिंदी सीखने-वालों को दो भाषाएँ न सीखकर एक ही सीखनी पड़ेगी। इसके सिवा व्रजभाषा में केवल शृंगाररस की कविताएँ हैं, जो अश्लीलता से परिपूर्ण हैं। भाषा भी ऐसी क्लिष्ट और जटिल होती है कि समझ में नहीं आती। शब्दों को जैसा चाहा, तोड़ा-मरोड़ा। कविताओं में भाव-सौंदर्य कुछ नहीं, केवल वही शब्दाडंबर और रसाभास। नख-सिख वर्णन और नायिकाभेद के सिवा वहाँ न उपदेश है, न आदर्श हैं, और न सामाजिक सहानुभूति है। देशदशा-वर्णन, स्वाभाविक वर्णन और राष्ट्रभाव का तो नामतक उसमें नहीं है। इन बातों के प्रमाण में नीचे लिखे कवित्त हैं। पहला कवित्त यों है—

"तमतोम-तामस-तमोगुन-सी तोयद-सी,
मौलम जटानपाटी जटा प्रजटी-सी है,

पजनेस कदरप दीपक-सिखा-सी चारु,
हाटक-फटिक-ओप चटक पटी-सी है।
कचकुच दुविध विचित्राकृत चकवेप,
छूटी लटपटी कटि तट लपटी-सी है,
विरह अशुभ पद तीनन प्रदोष पाय,
पन्नगी पिनाकी पद पूजि पलटी-सी है।"

अब ऋतु-वर्णन सुनिए—

"कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
क्यारिन में, कलिन-कलीन किलकंत है,
कहै पदमाकर परागन में, पातहू में,
पानन में, पीक में, पलासन पगंत है।
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में,बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरो बसंत है।"

इसमें वसंत वर्णन तो नहीं, बकार की बहार बेशक है। अब श्रावस की प्रशंसा में पजनेसजी की प्रतिभा भी प्रत्यक्ष कर लीजिए—

"पजनेस झमा झौंक झोकत झपाक झपा,
झरा झर झरनि झिरेंगे झुरवान में।
ककुभ करिंद कहै हैं वधिर गराजन तें,
तीछन तरा पै कोटि-कोटिन कृपान में।
धावत धभात धिंग धीर धमधुधाधुम,
धाराधर धधर धराधर धुवान में।

भूर धुंध धुँधर धुधात धूम धुधरित,
धुँधर सुधुँधरित धुनि धुरवान मे।"

कहिए, क्या समझे ?

यह ब्रजभापा के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की कविता है। इसका समझना सहज नहीं। पूर्व जन्म के पुण्य उदय हों, तो यह समझ में आ सकती है, अन्यथा नहीं। शब्दाडबर के सिवा इसमे क्या गुण है, सो भगवान ही जाने। वीररस की कविता है सही, पर उसकी भाषा बनावटी है, और कानों को कोंचनेवाली परुष पदावली उसमें अधिक है, जिससे हृदय उत्तेजित नही होता।

तुपक्कैं तडक्कैं भडक्कैं महा है,
प्रलैचिल्लिका-सी भडक्कैं जहाँ है।
खडक्कैं खरी बैरि छाती भड़क्कै,
सडक्कैं गए सिधु मज्जै गडक्कैं।"

भला इसमे बाह्याडवर और घटाटोप कृत्रिमता के अतिरिक्त और क्या है ? राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ रहा है, और इसके विरोधियों की सख्या घट रही है। जो लोग खडीबोली को कविता के योग्य नहीं समझते, और पुरानी भाषा मे ही—जिसे खडी बोलीवाले चाहें, तो पडी बोली कह सकते है—कविता किए जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए, तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।

इतना ही नहीं, खडी बोली के खरे आचाय यह भी कहते हैं कि हमारी भाषा में कुछ दिनों से बेतुकी कविता भी होने लगी है।

जब दूसरी भाषाओं में ऐसी कविता हो चुकी है, और होती है, तो कोई कारण नहीं, कि हिंदी में न हो सके। अनुप्रास मिलाने में कभी-कभी भाव को अवश्य हानि पहुँचती है, और कविता के लिये भाव ही मुख्य वस्तु है। तुकहीन कविता यदि कानों को खटके तो उसे कानों का ही विकार समझना चाहिए। इत्यादि।

अब व्रजभाषावाले क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—उनका कहना है कि व्रजभाषा मृतभाषा नहीं, क्योंकि यह आज भी आगरा-मथुरा आदि जिलों में बोली जाती है, और इसके बोलनेवालों की संख्या लाखों के ऊपर है। मृत भाषा तो वह है, जो कहीं न बोली जाती हो। यह तो बोली जाती है, इसलिये जिंदा जबान है।

अगर सच पूछो, तो यह खड़ी बोली कहीं की बोली नहीं, क्योंकि जितनी बोलियाँ या भाषाएँ हैं, उनका संबंध किसी-न-किसी देश, प्रांत या मनुष्य से है, जैसे नेपाल की नेपाली, पंजाब की पंजाबी, गुजरात की गुजराती, मराठों की मराठी, बंगाल की बंगला, अँगरेजों की अँगरेजी, हिंदुस्थान की हिंदुस्थानी और हिंद की हिंदी। खड़ी बोली या उर्दू किस की और कहाँ की बोली है? न खड़ा या उर्दू कोई देश है, और न कोई मनुष्य। फिर यह आई कहाँ से? उर्दू तो भला छावनी में जाकर पनाह ले सकती है; पर खड़ी बोली कहाँ जाकर खड़ी होगी? व्रजभाषा वास्तव में जीती-जागती भाषा है, जो व्रजभूमि और उसके आसपास बोली जाती है। इसीमें कविता होनी चाहिए। इसके समझनेवाले बहुत हैं।

"हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी;
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

जो यह समझ लेगा, वह

"भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर,
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मनमोर ।"

भी समझ सकेगा। इसलिये न समझनेवाली बात नासमझों की है। गद्यपद्य की भाषा सदा से दो होती आई हैं, और सदा होंगी। इन दोनों में सदा से अंतर रहा है, और रहेगा। अँगरेजी में भी यही बात है। अगरेजी-कवि वर्डस्वर्थ ने गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहा था, पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

खड़ी बोली के कवि भी गद्य से विलक्षण भाषा में पद्य रचते हैं। यथा—

"जान जामाता बहुत वरसिंह ने रोका उन्हें,
और शीतल दृष्टि से सप्रेम अवलोका उन्हें।"

"अवलोका" गद्य में कभी नहीं आता, और न बोलचाल में। "अवलोकन किया" अवश्य आता है। जो हिंदी सीखनेवाला केवल गद्य की ही भाषा सीखेगा, वह "अवलोका" का अवलोकन कर अवश्य ही आश्चर्यान्वित हो जायगा। अत हिंदी-साहित्य के शिक्षार्थियों को दोनों प्रकार की भाषाओं की शिक्षा लेनी पड़ेगी। केवल बोली सीखनेवाले के लिये इसकी जरूरत नहीं है। यह कहना सरासर अन्याय है कि ब्रजभाषा में केवल शृंगाररस की कविताएँ हैं, और अश्लील है। यदि ब्रजभाषा में अश्लीलता है, तो खड़ी बोली भी अश्लीलता से अछूती नहीं है। देखिए—

"आलाप दूरि, परिरंभण दूरि, अंग-
स्पर्शादि दूरि अरु दूरि निदिध्यासन ।"*

---

*इस पद्य का अर्थ गलत किया गया है। संपादक

कहिए, इसमें अश्लीलता है या नहीं ? "आलाप को दूर कर सकते हैं, परिरमण को भी दूर कर सकते हैं, पर अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग को दूर नहीं कर सकते।" यदि कोई कुमारी कन्या अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग का अर्थ पूछे, तो मौन रहने के सिवा कविजी और क्या करेंगे ? यह रचना भी ऐसे-वैसे कवि की नहीं, खड़ी बोली के प्रसिद्ध आचार्य की है। अभी अश्लीलता के अनेकों उदाहरण हैं, पर सभ्य समाज के सम्मुख उनका उपस्थित करना समीचीन नहीं। अतएव यही अलम् है। अश्लीलता के अनुरागी अधीर न हों, ध्यान लगाए बैठे रहें। उनकी भी इच्छा पूरी हो जायगी।

भाषा की क्लिष्टता और जटिलता में तो खड़ी बोली बैठी ब्रजभाषा के भी कान काटती है। उदाहरण लीजिए—

"चेतोहारी सुभग नवलानारि वक्षोजरूपा,
ऊँची-ऊँची कुमुद-कलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा।"

एक और—

"प्रफुल्लिता, कोमल, पल्लवान्विता, मनोज्ञता-मूर्ति, नितांतरंजिता,
वनस्थली थी मकरंदमोदिता, अकीलिता कोकिल-काकलीमयी।",

क्यों, इसमें सारल्य कूट-कूट कर भरा है न ?

अब खड़ी बोली में शब्दों की तोड़-फोड़ भी देख लीजिए—

"साहजहाँ ने सान्तिनीति को पुष्ट बनाया,
छीरफेन सम धवल सुजस छिति पर छहराया,
प्रजा पुत्र-से पाल सभी की विपति बँटाई,
करके मुझे प्रसन्न महा धन-रासि लगाई।
पुनि विरच ताजरौजा रुचिर, सब जग आचरजित किया,
रच विसद तख्तताऊस नम, गुन-ग्राहकता का दिया।"

एक और—

"किया समादर अति प्रगाढ भाषा कविता का,
भूषण कवि को नहीं दान देने में थाका।"

यहाँ "आश्चर्यिता" को तोड़-मरोड़कर "आचरजित" करना आश्चर्यजनक नहीं, पर "थका" को "थाका" होते देख बुद्धि बेतरह थक जाती है। तोड़-मरोड़ के लिये व्रजभाषा तो बदनाम थी ही, अब खड़ी बोली इसका शौक क्यों करने लगी ?

खड़ी बोली भी शब्दाडंबर से शून्य नहीं। भाव का अभाव तो बना ही रहता है। इसकी गवाही नीचे लिखी पंक्तियाँ देती हैं—

"था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्वल जगमगा,
अब भयंकर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा।
जानता था भंग होना कौन यों रस रङ्ग का ?
ध्यान था किसको, अहो, इस शोचनीय प्रसंग का ?"

हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव ? भला खड़ी बोली के 'रस-रङ्ग' 'प्रसङ्ग' को कौन "भङ्ग" कर सकता है ?

व्रजभाषा में स्वाभाविक वर्णन, देश-दशा वर्णन और राष्ट्रीयता का जो अभाव बताते हैं, उन्हें नीचे लिखे पद्य कंठस्थ कर लेने चाहिए—

स्वाभाविक वर्णन

"नव उज्जल जल धार हार हीरक-सी सोहति,
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत,
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावत,

दरसन, मज्जन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत।
श्री हरिपद-नखचंद्र-कांति-मनि द्रवित सुधारस,
ब्रह्म-कमंडल-मंडन भव-खंडन सुरसरबस।
शिव सिर मालति माल भगीरथ नृपतिपुण्यफल,
ऐरावत गज गिरिपति हिमनग कंठहार कल।
सगर-सुअन सठ सहस परस जल-मात्र उधारन,
अगिनित धारा-रूप धारि सागर संचारन।
कासी कहँ प्रिय जान ललकि भेंट्यो जगधाई,
सपनेहूँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत,
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका,
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा करिसाका।
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी-नर गावत,
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत।
कहुँ सुंदरी नहात नीर कर जुगल उछारत,
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोअत सुंदर बदन करन अतिही छबि पावत,
वारिधि नाते शशि कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि शशि-मुख नीर-मध्य इमि सुंदर सोहत,
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहीं-जहँ जात रहत तितहीं ठहराई,
गंगा-छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई।

(हरिश्चंद्र)

देशदशा वर्णन

सेल गई बरछी गई, गए तीर तरवार,
घड़ी-छड़ी चसमा भए, छत्रिन के हथियार।
विश्वामित्र वशिष्ट के, वसजहा श्रीराम,
सब चीरत हैं पेट-हित, भर वेचत हैं चाम।
बहु दिन बीते राम प्रभु, खोए अपनो देस,
खोवत हैं अब बैठ के, भाषा-भोजन-भेस।
(बाबू बालमुकुंद गुप्त)

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल,
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल।
धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल,
जड़ समान ह्वै रहत अकल हत रचि न सकत कल।
जीवत विदेश की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं कर सकत,
जागि जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुम्हरो तकत।
(हरिश्चंद्र)

ब्रज भाषा वाले कहते हैं, वीररस की कविता में "तुपकें तड़कैं" होन ही हृदय को उत्तेजित करनेवाले पद भी हैं यथा—

चल्हु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ,
लेहु म्यान सों खड्ग खैंचि रन-रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ,
केसरिया बानो सजि-सजि रन कंकन बाँधौ।
जौ आरजगन एक होइ निजरूप सम्हारैं,
तजि गृह कलहहिं अपनी कुल मरजाद निहारैं।

तौ ये कितने नीच कहा इनकौ बल भारी,
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मझारी।"
(नील देवी)

व्रजभापा वाले खडी बोली वालों से पूछते हैं कि राष्ट्रीयता व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना प उपयोगी है, तो किनको और कहाँ की बोलचाल की भाषा कविता लिखनी चाहिए—बिहारियों की या पजाबियों की, वाडियो की या व्रजवासियों की, काश्मीरी पडितों की या कनेरी वैश्यों की, कोरी किसानों की या पाधा-पडितों की, दिल्ली-खनऊ या आजमगढ-मऊ की, काशी की या झाँसी की ? किनकी लचाल की भाषा टकसाली मानी जाय, जिसमें कविता बने ? सवाल का हल होना जरा टेढी खीर है; क्योंकि सभी अपनी-पनी बोलचाल की भाषा में कविता करना चाहेंगे। इसका नतीजा होगा कि हिंदी दो मुल्लों की मुर्गी बन जायगी, और खींचातानी पड कुछ उन्नति न कर सकेगी। इसलिये नई भापा याने खड़ी ली मे ही कविता किए जाने का जो आग्रह करते हैं, वेही, सच छिए तो, हमारी राष्ट्रभाषा के "जानी दुश्मन हैं।"

बेतुकी भाषा के विषय में व्रजभाषा वालों का कथन है कि सरी भाषाओं की नकल कर हिंदी मे एक नई आफ़त खडी करने ी क्या जरूरत है ? बेतुकी कविता के बिना हिंदी की क्या हानि ? जब और बातें बेतुकी होने लगीं, तब भला कविता बेतुकी न ई, तो क्या हर्ज है ? जो प्रकृत और प्रतिभाशाली कवि हैं, उनके आगे अनुप्रास हाथ जोडे खडा रहता है। अनुप्रास के कारण उनके भाव भ्रष्ट नहीं होते। जो कच्चे कवि हैं, वे ही अनुप्रास के अन्वेषण

में असमर्थ हो भाव को भ्रष्ट करते हैं। बेतुके कवि भी तो अनुप्रास का आदर करते हैं। अंतर इतना ही है कि अनुप्रास को अंत में न लाकर आदि-मध्य जहाँ पाया, वहीं रख देते हैं। मौका मिल जाय तो अंत में भी लाते हैं, पर कहते हैं कि यह भिन्न तुकांत कविता है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

"गिरींद्र के अंक विलोकनीय थी,
वनस्थली बीच प्रशंसनीय थी।
अनूप शोभा अवलोकनीय थी,
असेत जंबालिनि कूल जंबुकी।"

'विलोकनीय' 'प्रशंसनीय' और 'अवलोकनीय' यही विशेष विचारणीय हैं। ये तीनों शब्द तीनों पंक्तियों के अन्त में आए हैं। फिर भी यह भिन्न तुकांत कविता है, यही आश्चर्य है।

कोई यह न समझे कि ऐसा उदाहरण विरल है। इसलिये एक और उद्धृत करता हूँ—

"नितांतलंबी, धाता-विवर्धिनी,
असंख्य पत्रावलि अंक-धारिणी।
प्रगाढ छायामयि पुष्पशोभिनी,
अम्लान काया इमिली सुमौलिथी।"

"विवर्धिनी", "अंकधारिणी" और "पुष्प शोभिनी", इस बात का प्रमाण स्वरूपिनी है।

यह तो हुआ खड़ी बोली और व्रजभाषा वालों का प्रश्नोत्तर। मैंने क्या अवलोकन किया, अब वह भी सुन लीजिए। मेरी समझ से खड़ी बोली और व्रजभाषा वाले, दोनों ही राष्ट्रभाषा हिंदी के जानी दुश्मन हैं, क्योंकि खड़ी बोली वाले व्रजभाषा का बहिष्कार

करते हैं, और ब्रजभाषा वाले खड़ी बोली को खरी-खोटी सुनाते हैं। इससे हिंदी की उन्नति में बाधा पहुँचती है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली हिंदी का दायाँ और बायाँ हाथ है। ब्रजभाषा हिंदी का प्राचीन और खड़ी बोली नवीन स्वरूप है। इन दोनों से हिंदी की शोभा ही नहीं, श्रीवृद्धि भी है। ब्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिंदी की प्राचीनता प्रकट न होगी, और खड़ी बोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है। इसलिये दोनों दलवालों को ईर्ष्या-द्वेष त्यागकर काम करना चाहिए। आपस में गालीगलौज करने से कुछ लाभ नहीं।

अश्लीलता, सभ्यता और रुचि समयानुसार बदलती रहती हैं। पहले जिसे लोग पसंद करते थे, आज उसे नापसंद करते हैं। हम जिसे पसंद करते हैं, पहले उसे लोग नापसंद करते थे, और संभव है, आगे भी नापसंद करें। जैसे खरीदार होते हैं, दूकानदार भी वैसी ही चीजें रखते हैं। एक समय वह था, जब देशी वस्तुएँ कोई पसंद नहीं करता था, तो देशी वस्तुएँ विलायती छाप लगाकर बेची जाती थीं, पर एक समय आज है, जब देशी चीजों की माँग है तो विलायती चीजें देशी छाप से बिक जाती हैं। तात्पर्य यह कि देश-काल-पात्र का प्रभाव सब पर पड़ता है। हम लोग पुरुषों के पाँव खुले रहने में कुछ बुराई नहीं मानते, पर स्त्रियों का वक्षस्थल खुला रहना बुरा समझते हैं। पर अंगरेजों के यहाँ इसके विपरीत रिवाज है। उनकी समझ में मर्दों के पैर खुले रहना असभ्यता है, पर स्त्रियों की छाती खुली रहना सुंदरता है। इसी तरह पहले जैसी लोगों की रुचि थी, जैसी सभ्यता थी, और अश्लीलता की जैसी सीमा थी, वैसी ही कविता कविगण करते थे। इसमें कवियों

का या ब्रजभाषा का क्या दोष है ? अब सब बातें बदल गई हैं, तो कविता का ढंग भी बदल गया है। समय आप ही सब कुछ करा लेगा। आपस में व्यर्थ झगडा करने से कोई लाभ नहीं।

खडी बोली के प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे ब्रजभाषा के कवियों को गालियाँ देने के बदले अपने घर का कूडा साफ करें। अभी खडी बोली की कविता जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती। उसमें प्राय भाव का अभाव और ओज की व्यर्थ खोज है। लालित्य के तो लाले पडे रहते हैं। इसमे खडी बोली का दोष नहीं, दोष है उसके अधिकाश कवियों का, जो स्वयभू-कवि बन जाते हैं। और, अधिक दोष है उनके पिट्ठुओं का, जो हर किसी को साहित्यरत्न, साहित्य-सम्राट् बना देते हैं। उर्दू भी तो खडी बोली ही है। देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं—

"सदियों से फिलसफे की चुना ओर चुनी रही,
लेकिन खुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही।"

इन दोनो पंक्तियों में कवि ने कैसी खूबी के साथ फिलासफीवालों पर व्यग्य किया है, यह देखकर दग हो जाना पडता है।

और सुनिए—

"बादे मुर्दन कुछ नहीं यह फिलसफा मरदूद है,
कौम ही को देखिए, मुर्दा है, और मौजूद है।"

इन खुले शब्दों में कैसा जादू भरा हुआ है ! सुनते ही दिल फडक उठता है। और सुनिए—

"बेपरदा कल जो आई नजर चंद बीबियाँ,
अकबर जमीं में गैरते कौमी से गड गया।

पूछा जो उनसे आपका परदा व क्या हुआ ?
कहने लगीं कि अक्ल पै मर्दों की पड़ गया।"

परदा उठानेवालों पर कैसा सुंदर आक्षेप है।

यह इलाहाबाद के तोहफा जनाब अकबरहुसेन साहब की शायरी है, जिनकी बाबत कहा जाता है—

"कुछ इलाहाबाद में सामाँ नहीं बहबूद के,
याँ धरा क्या है बजुज अकबर के और अमरूद के।"

क्या खड़ी बोली में दिल में चुभनेवाली ऐसी एक भी पंक्ति है ? मुझे तो काव्य क्या, महाकाव्य में भी नहीं मिली। फिर वह कविता ही क्या, जिससे दिल न फड़क उठे। कहा भी है—

"तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया,
पदविन्यासमात्रेण मनोन न्हृत यया।"

अश्लीलता के भय से अर्थ नहीं लिखा।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी ब्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने बैसवाड़ी बोली में भी बुढ़ापे का कैसा सुंदर स्वाभाविक वर्णन किया है कि पढ़कर जी लोट पोट हो जाता है। लीजिए—

"हाय बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन,
करत धरत कछु बनत नाहीं कहाँ जान औ कैस करन।
छिन भरि चटक, छिनै माँ मद्धिम, जस बुझात खन होय दिया,
तैसे निखवख देखि परत है हमरी अक्किल के लच्छन।
अस कुछु उतरि जाति है जीते बाजी ब्यरियाँ बाजी बात;
कैस्यो सुधि ही नाहीं आवति मूड़इ काहे न दै मारन।

कहा चहो कछु, निकसत कछु है, जीभ राँड का है यह हाल,
कोऊ याको बात न समझै, चाहे बीसन दाँय कहन।
दाढ़ी न रु यार सा मिलि गै, बिन दाँतन मुहँ अस पोपलाल,
ठाढ़ी ही पर चलि-चहि पावति क्यों तमाखू को फाकन।
बार पाकिगे, रीरौ झुकिगैं, मूड़ो सालुर हालैं लाग,
हाथ-पाँय कछु रहे न आपन केहिके आगे दुख रोवन।"

अब हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्रीमान् प० श्रीधर पाठक जी देहरादून-यात्रा का वर्णन भी सुन लीजिए। इनकी भाषा गँवारी पूर्वी होने पर भी कैसी सरस है—

"ग्यारह मई महिनवा तेरह साल,
अदितवार अधदिनवा धूप दुकाल।
कढ़ि घर दुपहरिया लुक्कर जोर,
चढ़ेउ रेल अगनरिया टेसन ओर।
झुरतहि सब मनबसिया निज्जी कीन
भारी भीर सफरवा संग नहिं लीन।
बैठत तुरत गड़ियवा सीटी दीन,
बिजु अस चपल भगड़िया चाल प्रवीन।
पहिले चलिस चितवरिया कोपर घाट,
पुनि पल-पल मतवलिया पकरिस बेहाऊ।
भागत उथल पथलवा त्यागत देस,
बन-उपवन जल-थलवा विसम विसेस।
दौरत तट रुईं पेड़वा निपट दिखाहिं,
लागत लुअन थपेड़वा मुँह के माँहि।
तमतम तपत पुरजवा, जरत अकाम,

चमचम चपल चउँधरा विकट प्रकास।"

खडी बोली वालों को एक तो शब्दों को तोडना मरोडना न चाहिए, दूसरे खडी बोली की कविता मे ब्रजभाषा की पुट न डालनी चाहिए। इससे भाषा खिचडी हो जाती है। जिन दोषों को दूर करने के लिये खडी बोली में कविता की जाती है, जब वे बने ही रहे, तो फिर खडी बोली की क्या जरूरत है? इससे तो ब्रजभाषा ही अच्छी। विशुद्ध ब्रजभाषा या खालिस खडी बोली में कविता होनी चाहिए। दोनों की खिचडी न पकनी चाहिए। इसकी आवश्यकता भी नही है। खालिस खडी बोली में खासी कविता हो सकती है। बनानेवाला चाहिए। उर्दू का नमूना दिखा चुका। अब हिंदी का दिखाता हूँ—

"आ, आ प्यारी वसंत सब ऋतुओं में प्यारी,
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर-क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाए,
गेंदे ले ले फूल खडे हैं सजे-सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की,
फूल, फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके,
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठाके।
मारग तकते बेरों के हुए सब फल पीले,
सहते-सहते सीत हुए सब पत्ते ढीले।
नीबू नारंगी हैं अपनी महक उठाए,
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाए।
पत्तों ने गिर-गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया,

झाड़-पोंछ वायू ने उसको स्वच्छ बनाया।
फुल सुघनी की टोली उड-उड डाली-डाली,
झूम रही है मद में तेरे हो मतवाली।
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी,
आ, आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी॥"

इसकी भाषा कैसी सरल, सुबोध और शुद्ध है। भाव कैसा भव्य और रचना-शैली कैसी सुंदर है।

ब्रजभाषा के अनुरागियों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि अब "यहि पाखें पतिव्रत ताखें धरौ" और "उमठ अरीरी में मरीरी फढ़ मुरलें" का ध्यान छोड़िए। अब

"पजन प्रयत्नसौं सकेत परजक पाय,
प्रफँद कुँदी के फद-फदन दुराय रे
केलि कुल कलाकल, कुलकलै कूल-कूल
कुर कौल-कौल कील कली खुर काय रे।
कल अवलंघ अलि, अनलि अबोल बोल,
लाल-लाल लोयन सौं सलिल बहाय रे,
ईलै ठलै ओल ओली, ओलत अली लै ओले,
हौलै-हौलै खोले पट योटे हाय हाय रे।"

जैसे कवित्तों से काम न चलेगा। समय बदल गया है। अब न तो वह 'कलिंदी कूल' है और न "कदंब की डारन" हैं। अब तो

"उमत लहलही जहाँ सघन सुंदर हरिआई,
तहँ अब ऊसरमयी भई, नसि गई निकाई।"

ऐसी अवस्था में समय देखकर काम करना चाहिए। समय के अनुकूल चलने से सफलता और प्रतिकूल जाने से विफलता होती

है, इसका सदा स्मरण रखना चाहिए। फालतू बातें छोड़कर काम की बातें कहिए, जिससे नाम हो, और काम बने। उठिए, उत्तेजना दीजिए। इस समय इसकी आवश्यकता है। यदि आपको वास्तव में ब्रजभाषा की भक्ति है, और उसकी शक्ति बनाए रखने की इच्छा है, तो उसका सस्कार कीजिए। नए-नए रत्न लाने का प्रयत्न कर उसका भाडार भरिए, नहीं तो पछताने के सिवा और कुछ हाथ न आवेगा। अब सरल, सुबोध, साधु और शुद्ध भाषा में स्वराज, समाज और स्वदेश-सबधी कविता कीजिए, जिससे साहित्य और स्वदेश का कल्याण हो।

इसमें सदेह नहीं कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों से राष्ट्रभाषा हिंदी का विभव बढ़ता ही है, घटता नहीं।

इसलिये—

खड़ी पड़ी औ अड़ी गड़ी बोलिन को रगरौ,
करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ।
हिंदू आरज नामन कौ झगरौ मत ठानौ,
जगन्नाथ की कही भला इतनी तौ मानौ।

'मल्लारि-मार्तंड' के सपादक को मेरा भी कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि 'सरस्वती' और 'मिश्रबधु-विनोद' की तरह मैंने भी उनका पक्ष पुष्ट करने के साधन सग्रह कर दिए हैं।

गद्य

अब गद्य में गोते लगाता हूँ, तो वहाँ भी अधेर का अधड़ पाता हूँ। शब्द, शैली और शील का सहार हो रहा है। "मनमानी घर जानी" का बाजार गरम है। जिसे देखो, वही ऐंठा सिंह बना बैठा है। जिसके मुँह से जो कुछ शुद्ध अशुद्ध निकल जाता है, वह

उसे ही पत्थर की लकीर समझ लेता है। लाख समझाने पर भी कोई खाक नहीं समझता। खडन-मडन में गाली-गलौज तक की नौबत पहुँच जाती है, पर निर्णय कुछ नही होता। वही ढाक के तीनों पात रह जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने लेखक हैं, उतने प्रकार की शैली है, उतने प्रकार का वर्ण-विन्यास और उतने ही प्रकार की वाक्यरचना। तात्पर्य यह कि हिंदी लेखकों की स्वेच्छाचारिता बढ रही है। यदि यह न रोकी जायगी, तो हिंदी-साहित्य की बडी हानि होगी। इसलिये गद्य-भाग का सिंहावलोकन सम्यकरूप से करना कर्तव्य है। पर लेख बहुत लंबा हो गया। अत इसे यहीं समाप्त कर शेषांश के लिये अगले सम्मेलन तक समय लेता हूँ, और यह कहने के लिये क्षमा मांगता हूँ कि—

जिन हिंदू के है नहीं, हिंदी का अनुराग,
निश्चय उसके जान लो, फूट गए हैं भाग।

क्योंकि—

जिसको प्यारी है नहीं, निज भाषा, निज देश,
पशु-सा है वह डोलता, नर का धरकर भेस॥

इसीसे—

कुल-कुपूत-करनी निरखि, धरनी के उर दाह,
धधक उठत सोई कबहुँ, ज्वाला गिरि की राह॥

और—

निरखि कुचाल कुपूत की, धरनी होति अधीर,
नैनन निरझर सौं झरत, यातैं तातो नीर।

अतएव—

लिंग का भी आज तक सफ़ाया हो जाता। पर भगवान गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंगभेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञासर्वनाम में लिंग होता है, पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से ख़ाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते, क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिये जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए, क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

जिन्हें इसका विश्वास न हो, वह "मिश्रबंधु-विनोद" खोल कर पढ़ लें। उसमें लिखा है—"हिंदी में सब से बड़ा झगड़ा लिंगभेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोलचाल और मुहावरे के अनुसार इस पर कारवाई की जाती है।"

यदि कोई भिन्न भाषाभाषी या विदेशी ऐसी बात कहता, तो आश्चर्य न होता, पर हमारे मिश्रबंधु महाशय हिंदी बोलनेवाले ही नहीं, हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के लिंग के कोई स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य ही नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैं या नहीं, यह कुछ न कह केलाग साहब (Rev. S H. Kellogg) क्या कहते हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलाग साहब ने अँगरेजों के लिये हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह कहते हैं—

हिंदी-लिंग-विचार*

संस्कृत-व्याकरण का लिङ्ग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है, वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र' शब्द संस्कृत में क्लीबलिंग और 'दार' शब्द पुल्लिंग है। समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष, पुरुष और स्त्री, स्त्री ही रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और क्लीबलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुजराती मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द, संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों मे विभक्त हैं, पर ठेठ बँगला और उड़िया-शब्द लिंगरहित हैं। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में भी दो ही लिंग हैं। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर कुछ गड़बड़ भी है, तो चील-कौवों में। क्योंकि हिंदी में कौवा नित्य पुल्लिंग, और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंग-प्रकरण पर कुठाराघात करने के लिये तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती, तो बँगला की तरह हिंदी के

---

* यह बंबई के नवम हिंदी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया।

लिंग का भी आज तक सफ़ाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंगभेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञासर्वनाम में लिंग होता है, पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से ख़ाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते, क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिये जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए, क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

जिन्हें इसका विश्वास न हो, वह "मिश्रबंधु-विनोद" खोल कर पढ़ लें। उसमें लिखा है-"हिंदी में सब से बड़ा झगड़ा लिंगभेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोलचाल और महावरे के अनुसार इस पर काररवाई की जाती है।"

यदि कोई भिन्न भाषाभाषी या विदेशी ऐसी बात कहता, तो आश्चर्य न होता, पर हमारे मिश्रबंधु महाशय हिंदी बोलनेवाले ही नहीं, हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के लिंग के कोई स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य ही नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैं या नहीं, यह कुछ न कह कैलाग साहब (Rev. S H. Kellogg) क्या कहते हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलाग साहब ने अँगरेजों के लिये हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह कहते हैं—

"Although, as thus appears, the gender of a Hindi word often seems to be quite arbitrary, yet there are certain practical rules by which the gender of most nouns may be known."

अर्थात्, "हिंदी-शब्दों का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है, तथापि कुछ नियम हैं, जिनसे अधिकांश शब्दों का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीं दोनों उक्तियों को आप मिलाकर देख लें, और जो कुछ समझना हो, समझ लें। एक तो हिंदी-भाषाभाषी हैं, और दूसरे भिन्न-भाषाभाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैं कि स्थिर नियम नहीं है, और दूसरे कहते हैं कि हैं। मैं समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेंगे, क्योंकि वह हिंदी के सुपुत्र हैं। उनकी ही बात सत्य हो सकती है। पर अफसोस! बात उलटी निकली। ऐसे ही सुपुत्रों की बातें सुनकर भिन्न भाषाभाषियों को हिंदी पर आक्षेप करने का अवसर मिल जाता है। इसी "मिश्रबंधु-विनोद" के सहारे इंदौर के मल्लारि-मार्तंड" के प्रचंड संपादक ने गत वर्ष हिंदी को हीन कहने का दुस्साहस किया था। ख़ैर, केलाग साहब ने कुछ नियम बताये हैं, जिनमें पहला यह है—These rules respect, either the signification of nouns or their terminations अर्थात्, अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और बात भी यही है। पर जो यह नियम नहीं जानते, वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैं कि हिंदी में स्थिर नियम ही नहीं है। ख़ैर, नियम है कि जिन शब्दों में हट, वट आदि प्रत्यय हों, वे स्त्रीलिंग होते हैं, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। इस विषय में अँगरेज की भी गवाही

ले लीजिए, क्योंकि आजकल उन पर लोगों का, विशेषकर हमारे बधुओं का, बड़ा विश्वास है। केलाग साहब कहते हैं—All nouns in हट or वट are feminine बुलाहट, बनावट आदि। कुछ लोगों ने भ्रमवश बुलाहट और बनावट के वजन पर "झंझट" को भी साड़ी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। झंझट में हट, वट कोई प्रत्यय नहीं, यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीं करता। सभी "गड्डलिकाप्रवाह"-न्याय से चले जाते हैं। अगर सोचें-विचारें, तो ऐसी भद्दी भूलें ही न हों। शिष्ट प्रयोग की तरफ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुषवेश में ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र "मन की लहर" में कहते हैं—

मिला रहे अपने प्यारे से नशे में उसके चूर रहे,
जी चाहे सो करे, मारे झंझट से दूर रहे।"

"भारतमित्र" के भूतपूर्व संपादक मित्रवर स्वर्गवासी बाबू बालमुकुंद गुप्त दिल्ली प्रांत के वासी थे। उन्हें इस विषय का मैं प्रमाण (authority) मानता हूँ। वह झंझट को सदा पुल्लिंग ही मानते थे। इसका प्रमाण "गुप्त-निबंधावली" के ८९ वें पृष्ठ पर है। उसमें लिखा है—"न मार्ग चलते भीड़ में रुकने का झंझट।"

जोधपुरनिवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ "बहराम बहरोज" नाम की हिंदी-पुस्तिका के २६ वें पन्ने में लिखते हैं—"बहरोज ने यह खबर सुनकर अपने बाप और चचा से कहा कि मैं तो विवाह करके बड़े झंझट में पड़ गया।"

'सतसई-संहार' वाले श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान्, और फ़ारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फरहंगे आसफिया के लेखक देहलवी और जलाल, तथा जलील लखनवी इसे मुज़क्कर (पुल्लिंग) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ़ राय ही नहीं देते, पुल्लिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। ३०।५।१८ के पत्र में आप लिखते हैं—"अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।"

इसलिये झंझट के पुल्लिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

झंझट के बाद "आहट" है। इसकी भी खूब खींचातानी है। इसमें "हट" प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए "अभिज्ञान शकुंतला" नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे के मूनप्रेस की सन् १९०४ की छपी है, और दूसरी "काशी के सेंट्रल हिंदू-कॉलेज के अध्यापक और बनारस की नागरीप्रचारिणी सभा के भूतपूर्व-मंत्री तथा उपसभापति" बाबू श्यामसुंदरदास बी०ए० द्वारा संपादित सन् १९०८ ई० की है, जो प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनों में बड़ा भारी लिंगभेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता, क्योंकि उधर तो राजा लक्ष्मणसिंह आगरे के और इधर बाबू श्यामसुंदरदास काशी के। ख़ैर, इसके निर्णय का भार मैं विद्वानों पर छोड़ आगे बढ़ता हूँ।

आगरेवाली प्रति के १० वें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चोंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।"

शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिए लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति के १२६वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है, यही माधवी कुंज है। निस्सदेह यह ऐसी दीखती है, मानों मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठे।"

यहाँ "कुंज" शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है।

अब बाबू श्यामसुंदरदासवाली प्रति खोलिए। उसके ७८ वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवीकुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है, तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानो आपका आदर करता है। आओ चलकर बैठें।"

यहाँ बाबू साहब ने कुंज पर कृपा कर उसे पुल्लिंग बना दिया है, और "दिखती है" को "दिखाई देता है" कर दिया है। शायद यह भी छापे की भूल हो। तो क्या छापे की भूलें करने के लिये ही यह संपादन हुआ है?

अच्छा "आहट" सुन अभी मत चौंकिए। आइए "कुंज" की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं।

चतुर्थ सम्मेलन के सभापति, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि मेरे मित्र प० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने "ऊजडगाँव" में कहते हैं—

सजीव मानते भी हैं, पर योरुपवाले नहीं मानते। फिर सूय पुरुष, और चद्रमा नारी क्यों? क्या मिश्रबंधु महाशय इसका कुछ उत्तर रखते है? अँगरेजी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग, और कठोरता, उग्रता, दृढता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुल्लिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि "भारतमित्र"-सपादक प० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी-कृत "हिंदी-कौमुदी' नामक व्याकरण से होती है, जिसके १८ वें पन्ने में लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अगरेजों की गवाही बिना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता। इसलिये ढूँढ-ढाँढ कर अँगरेज गवाह लाया हूँ। अँगरेज भी कैसा? खासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स (John Beames) यह अपने Comparative Grammar में कहते हैं—"The masculine is used to denote large strong, heavy & coarce objects, the feminine small, weak, light & fine ones, and the neuter, where it exists, represents dull, inert & often contemptible things" याने बडी, मजबूत, भारी और मोटी चीजें पुल्लिंग, छोटी कमजोर, हलकी तथा पतली चीजें स्त्रीलिंग और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीवलिंग समझी जाती हैं।

आनंद की बात है, हिंदी में क्लीनता को स्थान नहीं मिला। इसलिये इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

सज्जनो, हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है, और उसके सुधार का क्या उपाय है? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अग-भग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं। "बा सोने को बारिये, जासों टूटें कान।" मैं वैसा सोना नहीं चाहता, जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता, जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो। इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है, और बनती चली जा रही है।

बाकी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेजी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृङ्खलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय Psalm, और पढा जाय साम। There देअर और here हीअर। Circle में "सी" क और स, दोनों का काम करती है। इसके सिवा जहाँ Running Water माने बहता पानी, और Walking stick माने टहलती हुई छडी न होकर टहलने की छडी होता है, वहाँ के गड़बड़झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं अँगरेजों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं, तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है। आखिर यह भारत की

भापा है और सस्कृत से निकली है। इसके सीखने मे देर न लगेगी। जरा ध्यान देने से हीं हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगो की इतनी कडी नजर क्यो है ? इसलिये कि कुछ पडिताभिमानी अहम्मन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है, और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदीशिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें, तो ऐसी गडबड न हो। कोई तो अँगरेजी के सहारे हिंदी का सुलेखक बन जाता है, और काई सस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढकर, और कुछ बिना पढे ही हिंदी के सुलेखक तथा सुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नही कि ये लोग हिंदी न लिखें। जरूर लिखें। मैं इसके लिये इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीखकर लिखें। यदि सीखकर लिखते, तो हिंदी के लिग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे सस्कृत के पडितजी महाराज आत्मा को कभी साडी न पहनावेंगे, क्योंकि उसके सिर पर सस्कृत-प्रणाली से पगड बाँधते आए हैं। लाख समझाने पर भी वह अपना अभ्यास न छोडेंगे। हिंदीवाले तो आत्मा को स्त्रीलिंग लिखेंगे, पर पडितजी आत्मा को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह स्वाहा के रहते पडितजी अग्नि को कभी स्त्रीलिग न मानेंगे, और न देवता को वह पुल्लिग ही, क्योकि सस्कृत में अग्नि पुल्लिंग, और देवता स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, सतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगडा है, क्योंकि संस्कृत मे ये पुल्लिंग हैं, पर हिंदी

में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले में 'पाठसाले' का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से 'अपना मान-मर्यादा' बढाते हैं। पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे, तो अपनी "कबीला" की "हुलिया" अपनी "तायफा" को बता "उमदी धोती" न दे"बेहूदी यातें" बक "ताजी खबरें" सुनावेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं; पर उर्दूवालों ने इन्हें पुल्लिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, नायफा पुल्लिंग हैं, पर हिंदी के रंगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उमदा,बेहूदा, ताजा वगैरह लफ़्ज स्त्रीलिंग के लिये कभी उमदी, बेहूदी, ताजी नहीं बनते। इनका रूप सदा एकसा रहता है।

हिंदी के लिंग विभाग पर प्राय सभी प्रांतवाले कुछ न कुछ अत्याचार करते हैं, पर बदनाम हैं बेचारे विहारी बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर विहार में "हाथी विहार करती है", तो पंजाब से "तारें आती" हैं, और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग "अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें" करते हैं। अगर विहार में "दही खट्टी" होती है, तो मारवाड में "बुखार चढती है', "जनेऊ उतरती" है, और कानपुर की जुही के मैदान में "बूँद गिरता" और "रामायण पढा जाता" है। विहार में "हवा चलता" है, तो झालरापाटन में "नाक कटता है," और मुरादाबाद में "गोलमाल मचती" है। फिर विहार ही क्यों बदनाम है ?

कुछ गडबड़ कोषकारों ने भी की है पादडी क्रेवन (Craven) अपनी "रायल डिक्सनरी" में अफवाह और भूख को पुल्लिंग लिखते

हैं। अंगरेजों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदीवाले भी "तथैवच" हैं। किसी ने संस्कृतलिंग का सहारा लिया, और किसी ने उर्दू-फारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके। नागरीप्रचारिणी-सभा का कोष अभी अधूरा ही है, परन्तु संतोष-दायक वह भी नहीं। लिंग-व्यभिचार उसमें भी हुआ है।

सबसे बढ़कर हैं वजन पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब बंदूक स्त्रीलिंग है, तो संदूक को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का वजन याने तुक एक है। इसी तरह मकान के वजन पर दूकान को पुल्लिंग या दूकान के वजन पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनों लिंगों में व्यवहार किया था। मैंने इसका कारण पूछा, तो बोले—"जिस समय बड़े संदूक का खयाल आ गया, पुल्लिंग लिखा और छोटे संदूक का खयाल आया तो स्त्रीलिंग लिखा।" यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा, और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधियुक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ अनुसार अंत में है, इसलिये "इच्छा" के रहते भी इच्छानुसार पुल्लिंग है, और ईश्वरेच्छा में "इच्छा" अंत में है, इसलिये यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चालचलन और चाल-व्योहार भी पुल्लिंग है, पर केलाग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

"भलीभाँति" की जगह "भली प्रकार" और "अच्छी तरह" की जगह "अच्छी तौर" से लिखने की चाल चली है पर यह तौर अच्छा नहीं, और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी में भी अपने संस्कृतप्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे "शृंगारसंवर्धिनी चेष्टा" "उपयोगिनी पुस्तकें", "उपकारिणी सरकार", "परोपकारिणी वृत्ति", "प्रभावशालिनी वक्तृता", "मनोहारिणी कविता", ही नहीं, "अबला स्त्री" का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब भविष्यत पत्नी और भावी पत्नी के स्थान पर भविष्यती पत्नी और भाविनी पत्नी के भी दर्शन होंगे। फिर "सुंदरा कन्या" "पवित्रा धर्मशाला" में "विदुषी व्यक्तियों" से "संस्कृता भाषा" पढ़ेगी। इधर 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के रहते हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की "स्थायी समिति" "अभागी हिंदी" की "शोचनीय स्थिति" देख "स्वतंत्रतावादी महिला" की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियों, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी' 'पुरुषिनी' न बन जाय।

ऐसी अवस्था में हिंदीसाहित्य-सम्मेलन को प्रचार के विचार में ही सारा अधिकार न लगा हिंदी के उपकार के लिये सौ काम छोड़कर इसके सुधार की ओर सब प्रकार से ध्यान देना उचित है, क्योंकि इससे हिंदी की बड़ी हानि हो रही है।

भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण से हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यह हिंदी के लिये हानिकारक है। यदि यही दशा रही, तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिये मेरी राय है कि पं० गोविंदनारायण मिश्र,

प० पद्मसिंह शर्मा, प० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्रीधर पाठक और पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी की एक समिति बनाली जाय, जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि मेरी समझ से यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे, क्योंकि हिंदी की जन्मभूमि यहीं है, और यहीं के निवासी अहलेजबाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मतभेद हो, तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे या आगरे के आसपास हुए हैं। शुद्ध अँगरेजी सीखने के लिये जैसे हम अँगरेजों के बनाए ग्रंथ पढ़ते और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंग प्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

भाषण ※

आज मंगलमय मुहूर्त है, सुखमय शुभ समय है—आनंदमय अद्वितीय अवसर है। आज हम लोग शुचि शालग्रामी नदी के तट पर पवित्र हरिहरक्षेत्र में वीणापाणि भगवती भारती की भक्तिपूर्वक आराधना करने के लिये बहुत दिनों के बाद एकत्र हुए हैं। वीणापाणि की उपासना से बढ़कर और कोई उपासना नहीं। इससे अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष सब कुछ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। सारदा देवी की कृपा से मनुष्य अमर होता है। आज हम भी अमरत्व-प्राप्ति की आकांक्षा से यहाँ आए है। आशा है, माता की अनुकंपा से अवश्य ही अमर हो जायँगे।

माता के मंदिर में भेदभाव नही, और न पक्षपात है। वहाँ राजा-रंक, धनी-दरिद्र सब को समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर सभी का समान स्वत्व है। इसी से आज विहार के छोटे, बड़े, बालक, बूढ़े, स्त्री, पुरुष, अमीर गरीब, हिंदू-मुसलमान जातिभेद, वर्णभेद तथा व्यक्तिभेद भूलकर जगज्जननी के श्रीचरणों में पुष्पांजलि प्रदान करने को प्रस्तुत हैं। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य है— सबका एक मन और एक प्राण है—सबका एक ज्ञान और एक ध्यान है—सबका एक स्वर और एक तान है—सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार माता की पूजा करने के लिये उतावले हो रहे हैं।

※ विहार प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रूप में पठित।

भाइयो, आज बहुत दिनों पर माता की याद आई है। हम लोग भले ही माता को भूल जॉय, पर माता संतान का नहीं भूलती। हम भले ही कुपूत हो जॉय, पर माता कुमाता नहीं होती। वह सदा सपूतों और कुपूतो को एक ही दृष्टि से देखती है। वह पक्षपात नही करती। अतएव आइए, और श्रद्धाभक्तिसहित कहिए—

"वीणापुस्तक रंजितहस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते।"

सज्जनो, सरस्वती-सेवकों और साहित्य-सेवियों का यह सुंदर समारोह देख चित्त गद्गद हो रहा है। जिनके उद्योग से यह अलभ्य लाभ हुआ है, उन्हे हृदय से धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वह सदैव ही ऐसा दृश्य दिखाया करेंगे। पर एक प्रार्थना है कि अब के जैसी भूल हो गई, वैसी फिर कभी न हो। पर इसमे किसीका क्या दोष ?

"अजस पिटारी ताहिकर गई गिरा मत फेरि"

गिरा ने मथरा की मति फेरकर जैसे गड़बड कर दी थी, वैसे यहॉं भी उसने हमारी, आपकी, सबकी मति की गति फेर दी। बस, आपने मुझ-जैसे "विनोदी" को सभापति चुन डाला, और मैंने भी मजूर कर लिया। अब इस भयानक भूल का फालतू फल हमारे, आपके सिवा और कौन भोगेगा ? खैर, आगे के लिये किसी मुहर्रमी को अभी से चुन रखिए, जो चित्त-विनोद न कर चित्त को चोट पहुचाकर लोटपोट करदे।

विहार की वर्तमान अवस्था अवलोकन कर जो अतीत का अनुमान करते हैं, वे बेतरह भूलते हैं। विहार का प्राचीन गौरव सोने के अक्षरों में लिखने योग्य है। विदेह जनक का ब्रह्मज्ञान,

गौतमबुद्ध का निर्वाण, पाणिनि का व्याकरण, अशोक का धर्माचरण, कपिल का सांख्य, गौतम का न्याय, वाचस्पति मिश्र का षडदर्शनो पर भाष्य, मडन मिश्र का शकराचार्य से शास्त्रार्थ और चाणक्य की नीति इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके बाद प्राकृत भाषा की भी खासी उन्नति हुई। मागधी की महिमा कौन नहीं जानता? पर मेरा सबध तो हिंदी से है। इसलिये अब देखना यह है कि बिहार ने हिंदी के लिये क्या किया। जहाँ तक मैंने देखा, उससे तो निराश होने का कोई कारण नहीं देखता। हमारा बिहार-प्रदेश हिंदी-सेवा में किसी प्रदेश से किसी प्रकार कम नहीं है। यदि युक्त-प्रात को अपने लल्लूलाल का अभिमान है, तो बिहार को भी अपने सदल मिश्र का गर्व है। सदलमिश्र कविवर लल्लूलाल के समसामयिक और आरे के रहनेवाले थे। लल्लूलाल ने "प्रेमसागर" लिख जिन दिनो वर्तमान हिंदी की नींव डाली थीं, उन्हीं दिनों हमारे सदल मिश्र ने भी "चन्द्रावती" लिखकर बिहार का गौरव बढाया था। अभी तक इसके पढने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका, पर सुना है कि पुस्तक अच्छी, और भाषा भी साफ है। इसके बाद भी हम देखते हैं कि बिहार हिंदीसेवा से वचित नहीं है। यहाँ के जमींदार और रईसों ने समय समय पर बिहार के गौरव बढाने का उद्योग किया है। सबसे पहले डुमरांव के श्रीयुत महाराजकुमार शिवप्रकाशसिंहजी का शुभ नाम याद आता है। इन्होंने तुलसीदास की "विनयपत्रिका" पर "रामतत्वबोधिनी" नाम की टीका लिखी है। इसके सिवा "सत्सगविलास", "लीला-रसतरगिणी", "भागवततत्वभास्कर", "उपदेशप्रवाह" और "वेदस्तुति" की टीका इनकी रचनाएँ हैं।

तारणपुर-निवासी बाबू हितनारायणसिंहजी की मृत्यु स०१८६ ई० में हुई। यह बड़े स्वदेशप्रेमी थे। कविता भी करते थे। यह स्वदेशी वस्तु का व्यवहार अच्छा समझते थे। आपका उपदेश है—

"धनी यहाँ की वस्तु जो, ताकर कर सन्मान,
अपर देश की वस्तु तें, होत यहाँ अति हान।
कृषी-कर्म, वाणिज्य पुनि, शिल्प अधिक उर आन,
महराठिन की रीत पर, सजग होहु मतिमान॥"

इत्यादि।

ब्राह्मण-क्षत्रियों की बात जाने दीजिए। बिहार के शूद्र भी सरस्वती माता की सेवा करते थे। छपरे के ठाकुर कवि इसके प्रमाण हैं। यह मधेसिया काँदू थे। यह पढ़े-लिखे तो साधारण ही थे, पर सत्सगी होने के कारण कविता अच्छी करते थे। इनका एक पद सुनिए। देखिए, इसमें भक्ति कैसी कूटकूट कर भरी है, और भाषा भी कैसी भव्य है—

हरि मोहि सेवरी-सेवक कीजे।
पादोदक प्रहलाद दैत्य को, निदचर नफर करीजे,
गनिका अनुग अजामिल अनुचर, गीध गुलाम गनीजे।
दास करो रविदास कबिर को, सुपच पगती दीजे,
"ठाकुर" ठौर ठाव होइवे को सदन-सदन मोहि दीजे।

मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर को कौन नहीं जानता? बंगाली इन्हें बँगला का आदि-कवि मानते हैं, और इन्हें बंगाली बनाने के लिये सदा चेष्टा करते हैं। इनकी कविता मैथिल बोली में होने पर भी हिंदी की संपत्ति है, क्योंकि मैथिल हिंदी-भाषान्तर्गत एक बोली है।

"करतउ कमल नेन ढर नार,
न चेतय समरन कुतल चीर।
तुश पथ हेरि-हेरि चित नहि धीर,
सुमरि पुरन नेहा दगध शरीर।
करि का माधव साधन प्रान,
निरहि युवति मोग दरसन दान।
जल-मध कमल, गगन-मध सूर,
आँतर चान, कुमुद कत दूर।
गगन गरज मेघ, सिखर मयूर,
कत जन जानसि नेह कत दूर।
भनइ विद्यापति विपरित मान,
राधा-वचन लजायल कान्ह।"

भला इसे कौन हिंदी नही कहेगा ?

आप यह न समझें कि केवल व्रजभाषा की ही कविता बिहार में होती थी। खडी बोली के कवि भी यहाँ हुए है। यही नहीं, खडी बोली की कविता को खडा करने में बिहार ने पूरा उद्योग किया है। इसका श्रेय मुजफ्फरपुर के स्वर्गवासी बाबू अयोध्याप्रसादजी खत्री को है। बाबू साहब खडी बोली की कविता के बड़े भारी हिमायती थे। आपने ही पहले पहल खडी बोली के पद्य का संग्रह सन् १८८८ ई० में किया था। इसका संपादन फेड्रिक पिनकॉट साहब ने किया और लंडन को डबल्यु० एच० एलेन कंपनी ने इसे छापा था।

बिहार के खडी बोली के कवि की कविता की भी चाशनी देख लीजिए। मुजफ्फरपुर जिले के मानपुरा के बाबू लक्ष्मीप्रसाद स १८७६ ई० के "बिहार-बंधु" में भारत की दशा का वर्णन करते हैं—

"जहाँ मंदिर थे खड़े, वाँ हैं काँटे उपजे,
बस्तियाँ बस गईं, शृगाल, खर औ शूकर से।
याँ के लोगों कि दशा, कैसी थी क्या कोई कहे,
लेखनी ला हिया फट जाय जो लिखने बैठे।
आठ पक्ष उनका असह दुख देख घटा रोती है,
सूर्य की ताप-ग्रसित छिन्न छटा होती है।"

पटनावासी बाबू महेशनारायण की कविता भी सन् १८७८ ई० के बिहारबंधु में मिली है। यह कौन महेशनारायण हैं Maker of modern Bihar या दूसरे, मालूम नहीं। इनकी 'स्वप्न' नाम की कविता से कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—

"मुख मलीन मृगलोचन शुष्क
शशि की कला में बहार नहीं थी,
लब दबे जीवन उभरे
रवि की छटा रुखार (?) नहीं थी।
गरब, हसब, अफसोस, उम्मीद
प्रेमप्रकाश, भय चंचल चित्त
थे यह सब रुख पर नुमायाँ उसके
कभी यह, कभी वह, कभी यह, कभी वह,
मुखचंद्र निहार, हो यह विचार—
कि प्रेम करूँ, दया दिखलाऊँ ?"

ये पद्य कैसे हुए, यह बताने की अभी जरूरत नहीं। अभी तो यह दिखलाना है कि बिहार खड़ी बोली की कविताओं से खाली नहीं है, और वह कभी किसी बात में पीछे नहीं रहा है।

मुंगेर के जान साहब (John Christian) भी हिंदी में कविता करते थे। यह पादड़ी थे, इससे इनकी कविता का विषय ईसामसीह ही था, पर कविता अच्छी होती थी। इनकी मृत्यु सन् १८८८ ई० में हुई। "मुक्तिमुक्तावली" नाम की पुस्तक लड़कपन में देखी थी, उसकी एक पंक्ति अब तक याद है—

'मन मरन समय जब आवेगा, ईसू पार लगावेगा।"

बिहार के पं० केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे विद्वान हो गए हैं। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "हिंदी-व्याकरण" सबसे मुख्य है। वाजपेयीजी की हिंदी-कौमुदी को छोड़ इससे अच्छा दूसरा व्याकरण देखने में न आया। इनकी भाषा शुद्ध एवं सरस होती थी। यह "बिहार-बंधु" पत्र और प्रेस के स्वामी थे। बिहार में इनसे हिंदी का बड़ा प्रचार और उपकार हुआ है। "शमशाद-सौसन" और "सज्जाद सुंबुल" नाम के दो नाटक भी इन्होंने लिखे हैं।

वर्तमान गिद्धौर-महाराज के पूज्य पितृव्य स्वर्गीय म० कु० बाबू गुरुप्रसाद सिंहजी भी हिंदी के लेखक और कवि थे। "राज-नीति-रत्नमाला", "भारत संगीत" और 'चुटकुला' नाम की तीन पुस्तकें इनकी लिखी हैं। चुटकुला फुटकल पद्यों का संग्रह है। गंगाजी के संबंध में इनकी एक कुंडलिया इस प्रकार है—

गंगाजी की विषमता लखि मो मन हरषात,
स्नानक पठवति स्वर्ग कों, आपु निम्न गति जात।
आप निम्न गति जानि, ताहि गिरि-शिखर पठावै,
आप मकर आरूढ़, ताहि दै वृषभ चढ़ावै।

आप सलिल-तनु धारि, ताहि दै दिव्य जु अंगा।
जगत-ईश करि ताहि, शीस चढि विहरत गंगा॥"

मेरे ग्राम मलेपुर के रईस वैकुंठवासी बाबू छत्रधारीसिंहजी भी गाने योग्य पद बनाते थे, जो आज तक योंही पडे हैं, छपे नहीं। इनके ज्येष्ठपुत्र मेरे सहपाठी बाबू अयोध्याप्रसादसिंह भी गद्य-पद्य लिखा करते थे। शोक की बात है कि दो साल हुए, इनका देहांत हो गया। "जय जगदंब" नाम की पुस्तिका में इनके बनाए फुटकल गीतों का संग्रह है।

इसी प्रकार विहार के बहुतेरे जमीदार हिंदी की सेवा करते थे, और कर रहे हैं। यदि खोज की जाय तो अभी और भी बहुत से लेखकों और सुकवियों का पता चल सकता है।

अन्य प्रांतो के जिन विद्वानों ने विहार में आकर हिंदी का प्रचार किया और भाषा भंडार भरा है, उनका उल्लेख न किया जाय, तो बडी भारी कृतघ्नता होगी। इनमें मुख्य पजनेश कवि, छोटूराम त्रिपाठी, अंबिकादत्त व्यास और रामगरीब चौबे हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि पजनेस कवि छपरे के थे, पर 'कविता-कौमुदी' 'मिश्रबंधु विनोद,' और ग्रियरसन साहब के The Modern Vernacular Literature of Hindustan के अनुसार पजनेसजी पन्ने के तथा त्रिपाठीजी और व्यासजी बनारस के सिद्ध होते हैं। मि० काशीप्रसाद जायसवाल तो मिरजापुर के हैं ही।

अंगरेजी में ग्रियरसन और ओलढम साहब हैं, जिनका हिंदी से संबंध है। ग्रियरसन साहब ने तो हिंदी का उपकार करते हुए

अपकार ही किया है। इन्हीं के समय मे नागरी के बदले अदालतों में कैथी अक्षर हुए, और आरंभिक शिक्षा की पुस्तकें कैथी में छपने लगी। बिहार प्रांत की भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों में पुस्तकें छपवाकर बिहारवासियों में इन्होंने फूट का बीज बो दिया, जिसका फल मैथिल सभा से हिंदी का बहिष्कृत होना है। हमारे मैथिल भाई भ्रम-वश देश की हानि कर रहे हैं। हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे लोग जल्दी न करें। जो कुछ करें, सोच-समझकर करें। धन्यवाद है ओलढम साहब को, जिनकी कृपा से अदालत के कागज-पत्र कैथी के बदले फिर नागरी में छपने लगे हैं।

बेली-पोइट्री-प्राइज-फण्ड

बँगाल के छोटेलाट बेली साहब की यादगार में रौरे के राजा रामनारायणसिंह के रुपए से मुंगेर का बेली-पोइट्री-प्राइज-फंड स्थापित हुआ है, जिससे प्रतिवर्ष निर्दिष्ट विषय पर सबसे अच्छी कविता करनेवाले दो विद्यार्थियों को २५) और १०) पुरस्कार मे मिलते हैं। सन् १८९६ ई० मे इसका प्रथम पुरस्कार पाने की प्रतिष्ठा मुझे भी प्राप्त हुई थी।

सभा-समितियाँ

सभा-समितियों से भी हमारा बिहार वंचित नहीं है। आरा-नागरीप्रचारिणीसभा, लहेरियासराय-हिंदीसभा और भागलपुर-हिंदीसभा मंद गति से अपना अपना कर्तव्य पालन कर रही हैं। भागलपुर की सभा ने गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्यों की परीक्षा जारी कर अच्छा काम किया है। इससे तुलसीदास की कविताओं का प्रचार होगा, लोग उन्हें पढ़ेंगे और पारंगत होंगे। आरे की

सभा भी यथासाध्य हिंदी-प्रचार का उद्योग करती है। जरा और उत्साह दिखाया जाय, तो अच्छा हो। दुःख की बात है कि विहार की राजधानी पटने में हिंदी की एक भी शक्तिशालिनी सभा नहीं। क्या पटनेवाले यह अभाव दूर न करेंगे ?

पुस्तकालय

बाँकीपुर की "खुदाबख्श-लाइब्रेरी"-सा एक भी हिंदी-पुस्तकालय विहार में नहीं। यह विहार के हिंदुओं के लिये विचारने की बात है। आँसू पोंछने के लिये आरा नागरीप्रचारिणीसभा का पुस्तकालय, लहेरियासराय का पुस्तकालय, भागलपुर का पुस्तकालय, बाँकीपुर का चैतन्य-हिंदीपुस्तकालय, पटने का वराहमिहिर-पुस्तकालय और गया का मन्नूलाल—'पुस्तकालय अवश्य हैं। सुना है, मन्नूलाल-पुस्तकालय में प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथों और नवीन पुस्तकों का अच्छा संग्रह है।

छापाखाना

विहारबंधु प्रेस और ग्रंथवोधोदय प्रेस बाँकीपुर में पहले थे। यहीं हिंदी की पुस्तकें छपती थीं। सन् १८८० के आसपास स्वर्गवासी म० कु० बाबू रामदीनसिंहजी ने खड्गविलास प्रेस खोला था, जो प्रतिदिन उन्नति करता जाता है। इससे बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई। क्षत्रियपत्रिका आदि मासिक पत्रिकाएँ निकलीं, जो अब बंद हैं। साप्ताहिक शिक्षा आजकल निकल रही है। ग्रियरसन साहब की मानस-रामायण पहले पहल यहीं छपी थी। कहा जाता है, यह तुलसीदासजी की हस्त-लिखित प्रति से मिलाकर छापी गई है। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के ग्रंथों का स्वत्व इसी को प्राप्त है, पर प्रेस के मालिकों की ढील या उदासीनता

के कारण इन पुस्तकों का जैसा चाहिए, वैसा प्रचार नहीं हुआ। अब इधर ध्यान देने का समय आगया है।

भारतेन्दु-ग्रंथावली की तरह और ग्रंथकारों के ग्रंथों का शीघ्र ही सस्ता संस्करण हो जाना चाहिए। खड्गविलास प्रेसवालों को गुजरात की 'सस्तु साहित्य-प्रचारक-मंडली' का अनुकरण करना चाहिए। यह मंडली अच्छी-अच्छी पुस्तकें छापकर सस्ते दामों में बेचती है। इससे गुजराती साहित्य को बहुत लाभ पहुँचा है।

इसके बाद फिर धीरे-धीरे बहुत से प्रेस खुलते जाते हैं। भागलपुर के विहार-एंजल प्रेस और मुजफ्फरपुर के रत्नाकर प्रेस ने हिंदी की कुछ पुस्तकें बड़ी सफ़ाई के साथ छापी हैं। पर हर तरह की छपाई का काम करनेवाले प्रेस की अभीतक कमी है।

समाचारपत्र

समाचारपत्रों की अवस्था संतोषजनक नहीं। बाँकीपुर से निकलनेवाला विहार का ही क्यों, हिंदी भाषा का सबसे पुराना पत्र "विहार-बंधु" बंद हो गया। यह बड़े खेद की बात है। इसके जिलाने का फिर उपाय होना चाहिए। इसी तरह चंपारन की "चंपारण-चंद्रिका", छपरे का "सारण-सरोज" और "नारद", पटने का "खत्री-हितैषी", "भारत रत्न", "हरिश्चंद्रकला", "क्षत्रिय पत्रिका" और "हिंदी विहारी", भागलपुर का "पीयूष-प्रवाह", "श्री-कमला", "आत्म-विद्या" और "यंग विहार", आरा का "मनोरंजन", मुजफ्फरपुर का "सत्ययुग", राँची का "आर्यावर्त" और "नागरीप्रचारिणी-पत्रिका," मोतिहारी की "कुसुमांजलि" आदि पत्र और पत्रिकाएँ एक-एक कर निकलीं, और बंद हो गई। यह विहार के लिये बदनामी की बात है।

अब साप्ताहिक पत्रों में "पाटलिपुत्र", "तिरहुत समाचार", "मिथिलामिहिर" और "शिक्षा" हैं। "सर्च-लाइट" का हिंदी क्रोडपत्र भी निकलता है, पर इनमें 'पाटलिपुत्र' ने ही हथुआ महाराज का होकर भी निर्भीकता के साथ राष्ट्रपक्ष का समर्थन किया और विहार को जगाया है। 'शिक्षा' तो विद्यार्थियों को बस शिक्षा ही देती है। "मिथिलामिहिर" मेहरबानी कर हिंदी को अंधकार में रख, मैथिली पर ही प्रकाश डालता है।

मासिक पत्रिका में बस "लक्ष्मी" का नाम लेना अलम् है। विहार में दैनिक पत्र का अभाव बेतरह खटकता है।

प्रजाबंधु

धन्यवाद है प० जीवानंद शर्मा को, जिन्होंने इस अभाव को दूर करने के लिये "प्रजाबंधु" नाम की लिमिटेड कंपनी बनाई है, और उसके चलाने का वह पूरा उद्योग कर रहे हैं। हिंदीप्रेमी और देशानुरागी मात्र को इस देशहित-कार्य में पंडितजी की पूरी सहायता करनी चाहिए। इससे दैनिक पत्र और अच्छे प्रेस का अभाव मिट जायगा, ऐसी आशा है।

नाटक-मंडली

साहित्य की उन्नति और प्रचार के लिये नाटक मंडलियों की भी आवश्यकता होती है। आनंद की बात है कि मुजफ्फरपुर, छपरे और मोतीहारी में नाटक-मंडलियाँ हैं, और शायद भागलपुर में भी है।

पाठ्य पुस्तकें

सन् १८७५ ई० के बाद विहार के स्कूलों में हिंदी का प्रवेश

हुआ। उस समय युक्तप्रांतवालों की ही बनाई पुस्तकें स्कूलों में पढाई जाती थीं। राजा शिवप्रसाद का "गुटका" यहाँ भी गटका जाता था। सन् १८७२ ई० के लगभग फैलन साहब बिहारप्रांत के स्कूलों के इन्सपेक्टर हुए। इन्होंने बिहार में ही पाठ्य पुस्तकें लिखवाने का प्रथम प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई। इनके बाद स्वर्गवासी भूदेव मुकर्जी इसपेक्टर हुए। इनकी सहायता से बहुत-सी नई-नई पुस्तकें लिखी गईं, और प्रकाशित हुईं। फिर तो खड्गविलास प्रेम से धड़ाधड पाठ्य पुस्तकें निकलने लगीं, और निकल रही हैं। इधर मेकमिलन कपनी के सिवा प्र थमाला-कार्यालय और 'पाटलिपुत्र' के मैनेजर ने भी पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अब तक जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें अधिकांश रद्दी और भद्दी हैं। विहार-प्रांत के सहज भाषा दोष इनमें अधिकता से पाए जाते हैं। इनसे बड़ी हानि होती है। भूल-भरी पुस्तकें पढकर लडकों का भूल करना स्वाभाविक है। पीछे लाख समझाने पर भी वह दोष दूर नहीं होता। एक बार एक लड़के ने लिखा-"मुशलाधार वृष्टि होती थी।" मैंने कहा—"मूसलधार कहो, मुशलाधार नहीं।" उसने कहा मेरी पुस्तक में तो "मुशलाधार" ही लिखा है। यह कह उसने पुस्तक दिखा दी। उसका कहना ठीक निकला। मैंने लाख समझाया, पर वह छपी पुस्तक के सामने मेरी बात क्यों मानने लगा ? ऐसी-ऐसी बहुत-सी भूलें दिखलाई जा सकती हैं। इसलिये पुस्तक-प्रकाशकों से मेरा अनुरोध है कि वे चढ़ाऊपरी कर शिक्षा का उद्देश्य नष्ट न करें। यदि पाठ्य पुस्तक शुद्ध छपें, तो "विहारी हिंदी" का नाम ही न रहे। Baboo's English की बहन "बिहारी हिंदी" है।

अदालती भाषा

बिहार की अदालती भाषा और लिपि, दोनों ही विचित्र हैं। अदालत में तो ऐसी भाषा और लिपि बरती जानी चाहिए, जो सर्वसाधारण की समझ में आवे—गँवार देहाती भी बिना किसी की मदद के समझ ले। पर यहाँ मामला ही दूसरा है। देहातियों की कौन कहे, अदालती कागजों के पढ़ने में बड़े-बड़े शहरियों की भी नानी मर जाती है। अक्षर कैथी, और भाषा फ़ारसी—एक तो गिलोय, दूसरे नीम चढ़ी। फ़ारसी-जबान की शिकायत की नीयत से मैं यह नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इसलिये कह रहा हूँ, जिसमें अदालती कागज-पत्र समझने में देहात के हिंदू-मुसलमानों को दूसरे का मुँह न देखना पड़े। अदालत में मुंशी और मौलवी ही नहीं, गरीब गँवार भी जाते हैं, जो इस्तगासा, दरोगहलफी, जायदाद मुस्तरका, जरसमन, जायदाद मनकूला और गैर मनकूला का नाम सुनते ही डर जाते हैं। मतलब समझना तो दूर रहा, उन्हें वह अच्छी तरह दुहरा भी नहीं सकते। एक भले आदमी को मैंने तसफ़ीया को 'तपसिया' कहते सुना है। गरीबों का बड़ा उपकार हो, यदि कैथी के बदले नागरी, और फ़ारसी के बदले सीधी-सादी बोली का व्यवहार अदालत में होने लगे।

अनुकरणीय दान

भागलपुर के श्रीयुत प० भगवानप्रसादजी चौबे ने एक बहुमूल्य भवन बनवाकर हिंदी-सभा और पुस्तकालय के लिये हिंदी-माता के नाम पर दान कर दिया है। आशा है, सर्वत्र इसका अनुकरण होगा।

लेखक और कवि

लेखक और कवियों की संख्या भी उंगलियों पर गिनने के योग्य है। अँगरेजी के विद्वान् तो हिंदी को Stupid समझते, और संस्कृत के पंडित भाखा कहते तथा घृणा करते हैं। फिर लेखक आवें कहाँ से ? पर हवा बदली है। श्रीमान् गांधीजी के प्रभाव से हमारे वकील भाइयों का ध्यान हिंदी की ओर झुका है। आशा है, और लोग भी शीघ्र ही राह पर आवेंगे। यह आनंद की बात है, कि अबके दरभंगे की बिहार-प्रांतीय परिषद् में हिंदी को प्रधान स्थान मिला था। इसके लिये प्रशंसा करनी चाहिए परिषद की अभ्यर्थना समिति के अध्यक्ष पं० भुवनेश्वर मिश्र की, जिन्होंने अपना भाषण हिंदी में लिखा और पढ़ा था। यदि इसी प्रकार प्रत्येक परिषद में हिंदी को स्थान मिले, तो देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। बिहारी छात्र-सम्मेलन भी श्रीमान् गाँधीजी की आज्ञा का पालन कर हिंदी को ही अपने सम्मेलन में स्थान दिया करे, तो बड़ा उपकार हो। अंगरेजी पढ़ों में बाबू ब्रजकिशोर-प्रसाद, राजेन्द्रप्रसाद, पाँडे जगन्नाथप्रसाद, बदरीनाथ वर्म्मा, गोकुलानंदप्रसाद वर्म्मा, पं० राधाकृष्ण झा, गिरीन्द्रमोहन मिश्र, भुवनेश्वरी मिश्र, हरनंदन पांडे, लक्ष्मीप्रसाद, ब्रजनन्दनसहाय, गयाप्रसाद सिंह, कालिकाप्रसाद, सुपार्श्वदास आदि हिंदी-भाषा का आदर करते और उसमें लिखते-पढ़ते हैं। बाबू रघुवीरनारायण भी Golden Ganga के साथ "सुंदर सुभूमि मैया भारत के देस-वासे मोरे प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया" भी कह रहे हैं। इसी प्रकार संस्कृत के विद्वानों में पं० रामावतार शर्मा, अक्षय-वट मिश्र, शिवप्रसाद पांडेय, जीवानंद शर्मा, सकलनारायण

शर्मा हिंदी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हैं।

बिहार के वर्तमान वयोवृद्ध हिंदी-सुलेखकों और सुकवियों में प० विजयानंद त्रिपाठी, पं० चंद्रशेखरधर मिश्र, बाबू शिवनंदन सहाय और बाबू यशोदानंदन अखौरी आदि विशेष उल्लेख्य हैं। बाबू शिवनंदन सहाय ने भारतेन्दु और तुलसीदास के वृहज्जीवन-चरित लिखकर बिहार का गौरव बढ़ा दिया है।

मुसलमान

बिहार की एक विचित्रता यह भी है कि यहाँ के मुसलमान भी हिंदी से प्रेम रखते और हिंदी लिखते-पढ़ते हैं। इनमें सबसे पहले मिस्टर हसनइमाम का नाम याद आता है। यह हिंदी के हिमायती हैं। बेतिया के पीरमुहम्मद मूनिस और मुजफ्फरपुर के मुहम्मद लतीफ हुसेन हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक भी हैं। मलेपुर के खैरुल्ला मियाँ भी हिंदी में पद्य बनाते और समस्या-पूर्ति करते हैं।

जिन साहित्य-सेवियों के नाम छूट गए हों, उनसे क्षमा चाहता हूँ।

भाषादोष

यह सब होने पर भी लोग बिहारियों पर यह दोष लगाते हैं, और ठीक लगाते हैं कि बिहारवाले हिंदी के लिंग-प्रकरण और 'ने' विभक्ति पर बड़ा अत्याचार करते और उच्चारण भी ऊटपटांग करते हैं। पर मेरी समझ से इन दोषों के दोषी प्रायः सभी प्रांतवाले हैं। मैं अपने "हिंदी-लिंग-विचार"-नामक लेख में कह चुका हूँ, कि "अगर बिहार में "हाथी बिहार करती है" तो पंजाब में "तारे आती

हैं," और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग "अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें" करते हैं। अगर बिहार में "दही खट्टी होती है", तो मारवाड़ में "बुखार चढ़ती और जनेऊ उतरती है"। बिहार में "हवा चलता है", तो झालरापाटन में "नाक कटता" है, और मुरादाबाद में "गोलमाल मचती" है। अगर पटने में "बाजाड के कड़ेले को तड़काड़ी से पेट में दर्द होता है", तो पंजाब में "मद्र के अंदर बैठता है", और आगरे-ज़िले में "बुल्लपर फस्सविछ्ला उड़ के खेत में बह को मिचखिलाते" हैं। अगर तिरहुत में "सरक पर कोरा मारकर घोरा दौराया जाता है", तो बीकानेर में "अपने मतबल से चोर को कपड़ते हैं"। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है?

बिहार में 'आप कहे' प्रयोग होता है, तो पंजाब में "आपने कहा हुआ", याने बिहार में 'ने' की न्यूनता है, तो पंजाब में प्रचुरता। बिहार में 'र' का 'ड' और 'ड' का 'र' हो जाता है, तो व्रजभाषा में 'र' का बिलकुल लोप। इसलिए बिहारियों को संतोष करना चाहिए। पर इसका यह यह अभिप्राय नहीं कि मैं इन दोषों का समर्थन करता हूँ। ये बड़े भारी दोष हैं। इनसे जितनी जल्दी आप मुक्त हो जायँ, उतना ही अच्छा। तनिक ध्यान देने से ही आप शुद्ध प्रयोग कर सकते हैं। जो इस बात का ध्यान रखते हैं, उनसे ऐसी भूल बहुत कम होती है।

भाइयो, बिहार ने हिंदीभाषा के लिये क्या किया और क्या कर रहा है, यही अब तक मैंने दिखाया है, हिंदी-साहित्य के संबंध में अभी तक कुछ नहीं कहा, और न कहने की आवश्यकता ही है, क्योंकि हिंदी-साहित्य का महत्त्व अब सब लोग जान चुके हैं, और हिंदी को राष्ट्रभाषा भी मान चुके हैं। अब फिर पिसे को पीसने

की क्या जरूरत ? हाँ, इतना अवश्य कहूँगा, कहूँगा क्या "सिंहावलोकन"-नामक पुस्तिका में कह चुका हूँ कि ईर्षा, द्वेष, हठ, दुराग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचड़ी पका रहे हैं। कोई तीर घाट जाता है, तो कोई मीर घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है, तो कोई कोष का कायाकल्प। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है, तो कोई काव्यकलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्णविन्यास का विपर्यय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश। उलथा करने में भी उलट-पलट का चर्खा चलता है। बँगला की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी का श्वासोच्छ्वास गुम है। अँगरेजी की आँधी ने तो और भी आफत ढाई है। मुहावरों का मूँड इस तरह मूँड़ा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौक़ा ही नहीं। नाटक का फाटक बंद है, पर उपन्यास का उपद्रव बढ़ रहा है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, और कोई व्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी-जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाट बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में सभी ठाकुर हो रहे हैं।"

ऐसी अवस्था में कहिए, मैं किसे लूँ, और किसे छोड़ूँ ? सभी आवश्यक विषय हैं, और सब पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा सकता है। पर समय स्वल्प, और बातें बहुत हैं। इसलिये इन विषयों को पढ़ने में होने वाले सम्मेलन के लिये रख छोड़ता हूँ।

एक बात और निवेदन कर मैं अपना भाषण समाप्त करूँगा।

विहार मेरी पितृभूमि नहीं, मातृभूमि है, जन्मभूमि नहीं, कर्म-भूमि है। इसके अन्न, जल और वायु से मेरा यह नश्वर शरीर शाेभायमान है। यहीं मेरी शिक्षा-दीक्षा-परीक्षा हुई है। इसलिये मैं विहारी न होकर भी विहारी हूँ, और इसके द्वार का भिखारी हूँ। यह मेरी जननी की जन्मभूमि है, इसलिये इसकी सेवा करना अपना कर्म और धर्म समझता हूँ। आज आप मुझे सभापति-रूप से नहीं, सभासद्-रूप से बुलाते, तो मुझे अधिक आनंद होता। आपने आज मेरा जो कुछ सम्मान और स्वागत किया है, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक का किया है। जो हो, आपकी कृपा और दया के लिये आपको वारवार धन्यवाद देता हूँ, और हृदय से कृतज्ञता प्रकाश करता हू। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप सदैव सरस्वती-सेवकों और साहित्यसेवियों का सम्मान और स्वागत किया करें।

प्यारे नवयुवको, कुछ तुमसे भी हृदय की बातें कहनी हैं। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है, और तुमसे ही मेरी अपील है। अब विहारभूमि की, भारतभूमि और मातृभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी की लज्जा तुम्हारे हाथ है। तुम चाहो, तो शीघ्र इसका दुःख दूर हो सकता है। देखो, कैसी करुणाभरी दृष्टि से माता तुम्हारी ओर देख रही है। क्या इसकी सहायता न करोगे? इसी तरह दीन हीन, तन-क्षीण एवं मन-मलीन रहने दोगे? इसे सुखी करना क्या तुम्हारा धर्म नहीं है? तुम क्या अपने धर्म और कर्तव्य का पालन न करोगे? नहीं। ऐसा मत करो। उठो, कमर कसो, माता के उद्धार का बीड़ा उठाओ। तन-

मन-धन-जन से माता की सेवा करो। अगर उसकी सेवा में प्राण भी जायँ, तो उसकी परवा न करो। याद रक्खो, तुम किसीसे किसी बात में कमजोर नहीं हो। लेकिन न जाने क्यों तुम अपने को कमजोर समझ रहे हो। यह तुम्हारी भूल है। सिंह होकर शृगाल मत बनो। देखो, सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया। उसके लिये कभी दरबार नहीं हुआ, पर वह मृगराज कहलाता है। सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है। इसी तरह तुम भी अपने बाहु-बल से माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भंडार ज्ञान-विज्ञान से भरो। क्या करना है, उसे भी सुन रक्खो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे मातृभाषा द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी लोग अँग-रेजी पढते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी साहित्य दिन दिन उन्नति करता जाता है। बंगाली, गुजराती और मरहठों ने भी यही करके अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है, और कर रहे हैं। तुम भी वही करो।

(२) हिंदीभाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तका-लय और वाचनालय खुलवाओ। बिहार में इसका बड़ा अभाव है।

(३) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने बँगला, हिंदी आदि देशीभाषाओं में एम० ए० परीक्षा का प्रबंध किया है, उसी प्रकार पटना-विश्वविद्यालय में हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्व-विद्यालय के भूतपूर्व वाइस चांसलर कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज सर

आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवड़ा-साहित्यसम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बबई, मद्रास, पजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम० ए० को परीक्षा चलानी होगी। केवल बगाल मे चलाने से Reciprocal पारस्परिक फल की संभावना बहुत थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमे पटना विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में हिंदी को स्थान मिले। इसके लिये उद्योग करना आवश्यक है।

(४) चौथा काम अनिवार्य शुल्क-रहित प्रारंभिक शिक्षाबिल को कार्य में परिणत करना है। इसके लिये पाठशाला स्थापित करना और नागरी अक्षरों में पुस्तकें छपवानी चाहिए।

(५) हिंदी लिखने, पढने और बोलने का अभ्यास सबको कर लेना चाहिए, जिसमें सुधार संबंधी सब बातें अँगरेजी न जाननेवाले अपने भाइयों को अच्छी तरह समझा सको। देशहित के विचार से भी हिंदी का प्रचार करना आवश्यक है।

(६) अदालत में नागरी-अक्षरों और हिंदी-भाषा को जारी कराओ।

(७) जमींदारी कागज-पत्र कैथी अक्षरों के बदले नागरी-अक्षरों में लिखवाओ। कैथी अक्षरों के पढने में बड़ी तकलीफ होती है, और अकसर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(८) प्रांतीय परिषदों और छात्रसम्मेलनों में देशी भाषा का व्यवहार कराना भी आप ही लोगों का काम है।

(९) हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में स्वयं सम्मिलित हो, और दूसरों को उत्साहित कर सम्मिलित कराओ। संस्कृत की

परीक्षाओं में हिंदी नहीं पढ़ाई जाती। इसलिये संस्कृत के पंडित हिंदी से कोरे रह जाते हैं। इसलिये संस्कृत-परीक्षाओं में हिंदी को प्रविष्ट कराना चाहिए।

यह सब कोई असम्भव काम नहीं। यदि हों भी, तो पुरुषार्थ से उन्हें सम्भव बना सकते हो। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के "पाशुपत" अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंबे से नृसिंह भगवान का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनुमानजी के समुद्र लाँघ जाने की कथा है, उस देश के निवासियों के लिये असम्भव या असाध्य कुछ नहीं। इसलिये उत्साह के साथ उठो, और हिंदीमाता का हित-साधन करो। आओ, आज माता के सामने हम लोग प्रतिज्ञा करें—

भए उपस्थित आज यहाँ पै, जो सब भाई,
करें प्रतिज्ञा अटल, यही निज भुजा उठाई।
हिंदी में हम लिखें-पढ़ें, हिंदी ही बोलें,
नगर-नगर में हिंदी के, विद्यालय खोलें।
हिंदी के हित-साधन में, नित ही चित दैहैं,
अँगरेजी को भूलि सदा, हिंदी गुन गैहैं।
यह पन पूरो करें सदा, माधव मंगलमय,
हमहुँ कहें हिंदी, जय हिंदी, जय हिंदी जय॥

अभिभाषण *

"पदाग सधि-पर्वाण स्वरव्यञ्जनभूषितम्,
यमाहुस्तर विभारतस्मै वागात्मने नमः।"

जन्मभूमि जननी जाति, जन्हुसुता जगनाथ,
दुर्लभ पंच जकार हैं, इनहिं नवाओ माथ।

जो कुंदेन्दु-तुषार-हार सम सुंदर सोहति,
धवल कमल-आसीन सदा सुरगन मन मोहति
सादर सीस झुकाय सारदा सुमिरौं सोई,
विमल विवेक-विचार-बुद्धि जाके बल होई।
गीता-वानी वानि करौ वानी कल्यानी,
ललित मनोरम भाव-भरी औ नव रस सानी।
हिंदी-हिंदहि धारि हिये के ऊँचे आसन,
करि प्रनाम प्रारम्भ करौं अपनो अभिभाषन।

स्वागतसमिति के आदरणीय अध्यक्ष सहृदय सभासदो, प्रेमी प्रतिनिधियो, भाइयो और बहिनो,—

---

* द्वादश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, लाहौर में सभापति की हैसियत से दिया गया भाषण (ज्येष्ठ शुक्ल १, शनि, संवत् १९७९)।

पाँच पानी से पखारे हुए पंजाब के प्रधान नगर लवपुर में हिंदीसाहित्य-सम्मेलन का समारोह वसंतऋतु के समय वास्तव में सोने में सुगंध ही नहीं, चंदन में फूल और ईख में फल के समान होता, शीतल-सुगंध-सुखद समीर सदानंद संदोह का संचार कर मनोमुकुल को प्रफुल्ल कर देता तथा सभी गद्गद और पुलकित हो साहित्य-चर्चा करते, पर इस समय तो—

"तपत प्रचंड मारतंड महि-मंडल में,
ग्रीषम की तीखन तपन आरपार है,
"गिरिधर" कहै काँच कीच-सो बहन लाग्यो,
नद-नदी-नीर मानो अदहन-धार है।
झपट चहूँहन तैं लपट लपेटी लूह,
सेन-कैसी फूँक पौन झूकन की झार है,
तावा-सी अटारी तपी, आवा-सी अवनि महा,
दावा-से महल औ पजावा से पहार है।"

फिर साहित्य-सलाप में मन कैसे संलग्न रह सकता है? पर एक बात संतोष की है। कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ,
जगत तपोबन सौं कियो, दीरघ दाघ निदाघ।"

अर्थात्, इस भीष्म ग्रीष्म ने संसार को तपोवन बना डाला है। तपोवन में भेद-भाव नहीं रहता। इसीसे सर्प और मोर, हरिण और बाघ अपनी-अपनी शत्रुता भूलकर गर्मी से बेचैन हो एक जगह आ बैठे हैं। धन्यवाद है इस भीष्म को जिसकी कृपा से आज यहाँ भी सब मतवाले एक मत हो मातृभाषा की सेवा-शुश्रूषा के लिये एकत्र हो गए हैं। वासंती वायु में यह बात कहाँ थी?

परमात्मा से प्रार्थना है कि तपन-दमन के साथ सदा भीष्म ही रहे, जिससे हम लोग भेद-भाव भूलकर देश-जाति का कल्याण करें, और कभी अलग न हों।

इसमें सदेह नहीं कि स्वागतसमिति ने श्रीयुत लाला हसराजजी के रहते क्षीर को छोड नीर ग्रहण कर लिया है। न्यायशास्त्री प० गिरिधर शर्मा ने ऐसा अन्याय क्यों होने दिया? क्या हरि और हर, दोनों ही अपना स्वरूप भूल गए? गोकुलचदजी से कुछ न कहूँगा, क्योंकि वह नारँग हैं, पर टेकचदजी तो अपनी टेक रखते। कटूनमेट में रहनेवाले मूलचदजी भले ही मारशल लॉ जारी कर दें, पर देवपिरल रामजी से ऐसी आशा न थी।

समझ की भूल Error of judgement से जब जलिया-वाले बाग की लीला तक हो सकती है, तो "दारुभूत" जगन्नाथ को सम्मेलन का समापति बना देना कौन बडी बात है? कहनेवाले ने ठीक ही कहा है—

"काच मणि काचनमेक सूत्रे मूढा निबध्नन्ति किमत्र चित्रम्,
विशेषवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वान युवान मघवानमाह।"

जब पडिताग्रगण्य पाणिनि ने ही इद्र, युवक और कुत्ते को एक सूत्र में बाँधा है, तब आप लोगों ने भी मुझे विबुधवरों के बीच बिठा दिया, तो कोई विचित्र बात नहीं। पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि

"मुअर्रा हूँ हुनर से मैं, सरापा ऐब हूँ अकबर,
इनायत है अहिब्बा की अगर अच्छा समझते हैं।"

अतएव इस अपार अनुग्रह के लिये कृतज्ञता प्रकाश कर आप लोगों की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ।

जिन भारतभक्त हिंदी-हितैषी वीर-पुंगव लाला लाजपतरायजी ने गत वर्ष कलकत्ते में सम्मेलन के निमंत्रण का समर्थन किया था, वह कारागार-प्रवास कर रहे हैं। भारत में नवजीवन का संचार करनेवाले "हिंदी नवजीवन"-संपादक महात्मा गांधी कृष्णजन्मस्थान को प्रस्थान कर चुके हैं। इन दोनों महापुरुषों की अनुपस्थिति अत्यंत असह्य हो रही है। सम्मेलन के प्राण श्रीयुत पुरुषोत्तमदासजी टंडन अध्यापक रामदासजी गौड, "पथिक" प्रणेता पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० कृष्णकांत मालवीय प्रभृति साहित्यिक सुहृद भी बंदीगृह में वास कर रहे हैं। इनका यहाँ न होना बेतरह खटकता है। वे यहाँ नहीं हैं, परंतु उनकी सहानुभूति सम्मेलन के साथ अवश्य है। अतएव यहीं से मैं उनका अभिनंदन करता हूँ।

सज्जनो,

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः,
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"

से लेकर—

"एक साहब कह रहे थे चीरू-चीरू यूँ,
बोल गई माइ लार्ड कुकडूँ कूँ।"

तक साहित्य में कैसे-कैसे उत्थान-पतन, संशोधन-परिवर्तन, परिवर्द्धन, संस्थापन, उन्नति-अवनति, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वृद्धि, ह्रास, विकास, आदि हुए, इसको विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये समय और साधन सापेक्ष है। यहाँ न आपके पास इतना समय है, और न मेरे पास। इसके सिवा इन विषयों पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा चुका है। अब पिसे को पीसना अनुचित प्रतीत होता है।

भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, नामकरण तथा निरूपण आदि भी पूर्व सभापतियों के द्वारा गम्भीर गवेषणा सहित हो चुका है। इसलिये वर्तमान हिंदी-साहित्य की सम्यक् समालोचना ही साहित्यसेवियों के समक्ष समुचित होगी।

पंजाब

महाशयो, इस पचनद-प्रदेश के प्राचीन प्रबल प्रताप, प्रगल्भ पांडित्य और विश्व-विदित वेदज्ञान की विषद् व्याख्या व्यर्थ है, क्योंकि महामहिम महर्षियों का वेदों द्वारा तत्वों का उद्घाटन, सिख-सम्प्रदाय द्वारा शत्रुओं का उत्पाटन, आर्य्यसभ्यता का भारत में विस्तरण, पजाब-केसरी राजा रणजीतसिंह का सिख-साम्राज्य-सस्थापन, भारतभूमि के भाग्य का बारबार निर्धारण, गुरु नानक का अवतार, गुरु गोविंदसिंह की नई शक्ति का सचार आदि इनका पुष्ट प्रमाण है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पचनद प्रदेश के प्रभाव से ही आज भी भारतवर्ष का उत्कर्ष है, और भारत-वासी सगर्व सदा सिर उठाए रहते है।

किंतु आजकल यहाँ हिंदी का प्रचुर प्रचार न देखकर लोग कहने लगे हैं कि पजाब हिंदी सेवा से पराङ्मुख है। आधुनिक अवस्था आक्षेप के योग्य हो सकती है, परतु पजाब की पूर्व परि-स्थिति ऐसी न थी। भला जो प्राचीन आर्यसभ्यता का जन्मस्थान और वेदज्ञान का उद्गमस्थान है, जिसे सिखों के आदि-गुरु महात्मा गुरु नानक की जन्मभूमि होने का गौरव है, जो भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाले गुरु गोविंदसिंह आदि सिखाचार्यों की कर्मभूमि है, और जहाँ सिख-साम्राज्य सस्थापित हुआ, वहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा न हो, ऐसा कदापि सभव नहीं, क्योंकि राष्ट्रीयता और

साहित्य का अन्योन्याश्रय शाश्वत संबंध है। साहित्य का उत्थान-पतन राष्ट्र के उत्थान-पतन से सम्बद्ध है। साहित्य की श्रीवृद्धि होने से राष्ट्र की भी श्रीवृद्धि होती है एक के बिना दूसरा अग्रसर नहीं हो सकता। यह बात हमारे सिखगुरु भलीभांति जानते थे। इसीसे उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी का हाथ पकड़ा, और साथ दिया। प्राय: सभी सिखगुरु हिंदी के कवि थे, और अच्छी कविता करते थे। सिखों की 'वाणी' इसका प्रमाण है। बाबा नानक का उपदेश अब भी कानों में गूंज रहा है। भाषा कैसी साफ और भाव कैसा ऊंचा है। देखिए—

दोहा—

"नानक नन्हें हो रहो, जैसी नन्हीं दूब,
और घास जरि जाति है, दूब खूब की खूब॥"

और घास, तो लंबी और बड़ी होने पर भी धूप से जल जाती है, पर दूब पैरों के तले रौंदी जाती, काटी जाती, छांटी जाती है, तो भी वह सदा बनी रहती है। सहनशीलता का कैसा अच्छा फल दिखाया है। और सुनिए—

"जागो रे जिन जागना, अब जागन की बारि,
फेर कि जागो नानका, जब सोवउ पाँव पसारि।"

गुरुजी कहते हैं जिन्हें जागना है, जागें। यही समय जागने का है। मर जाने पर क्या जागोगे?" बात भी कुछ ऐसी ही है। फिर कहते हैं—

"मन की मन ही माँहि रही,
ना हरि भजे, न तीरथ सेवे, चोटी काल गही।
दारा, मीत, पूत, रथ, संपति, धन-जन पूर्न मही,

और सकल मिथ्या यह जानो, भजना राम सही।
फिरत-फिरत बहुतें जुग हारयो, मानस-देह लही,
नानक कहत मिलन की बिरियाँ सुमिरित कहा नहीं।"

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव की भी हिंदी-कविता सुन लीजिए—

"पाँच बरस को अनाथ ध्रुव बालक,
हर सिमरत अमर अटारे,
पुत्र हेत नारायन के हो
जम ककर मार बिदारे॥" इत्यादि

नवें गुरु तेगबहादुर के 'सबद' भी सुनने योग्य हैं—

"हरि का नाम सदा सुखदाई,
जाको सिमर अजामल उधरियो गनिका हू गति पाई।
पंचाली को राजसभा में राम-नाम सुधि आई,
ताका दुख हरयो करुनामय अपनी पैज बढ़ाई।
जिह नर जस किरपानिधि गायो ताको भयो सहाई,
कहो नानक मैं इसी भरोसे गही आन सरनाई।"

भारत के गौरव दसवें गुरु गोविंदसिंहजी तो हिंदी के प्रतिभाशाली कवि थे। दुःख है, उनकी समस्त रचनाएँ नहीं मिलतीं। जो कुछ मिली हैं, उन्हीं से सतोष करना पड़ता है। उनकी कविता का भी रसास्वादन कर लीजिए। "अकाल उस्तति" से एक कवित्त सुनाता हूँ—

"निरगुन निरूप हो, कि सुदर सुरूप हो,
कि भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो,
प्रान के बचैया, दूध पूत के दिवैया, रोग-
सोग के मिटैया किधो मानी महामान हो।

विद्या के विचार हो कि अद्वैत औतार हो,

कि सिद्धता की सूर्त्त हो कि सुद्धता की सार हो,

जीवन के जाल हो कि काल्हू के काल हो,

कि सत्रुन के साल हो कि मित्रन के प्रान हो।"

गुरुजी ने अपने "विचित्र नाटक" में खड्ग की क्या अच्छी स्तुति की है कि सुनने के योग्य है—

"खग खंड विहंड, खलदल खंड अति रनमंड बरबंडम्,

भुजदंड अखंड, तेज-प्रचंड जोति-अभंड भानु प्रभम्।

सुख-संता करणं, किलविख-हरण दुरमति-दरनं असि सरणम्;

जै जै जग-कारण, सृष्टि-उबारण मम मति-पारण जै तेगम्।"

जरासंध के युद्ध का वर्णन भी सुन लीजिए—

"यों सुनिकै बतियाँ तिह की,

हरि कोप कह्यो हम जुद्ध करैंगे,

बान, कमान, गदा गहिकै

दोउ भ्रात सबै अरि सैन हरैंगे।

सूर-सिवादिक ते न भजैं,

हनि हैं तुमको नहिं जूझ परैंगे,

मेरु हलै, सुखिहैं निधिबार

तऊ रन की छिति ते न टरैंगे।"

सिख-गुरु ही नहीं, अन्यान्य साधु-सन्यासियों ने भी हिंदी में काव्यरचना की है। इनमें सबसे पहले गोलोकवासी नारायण स्वामी का नाम स्मरण आता है। स्वामीजी के पदों में कैसा भक्तिरस, लालित्य और माधुर्य है, यह कहा नहीं जाता। भाषा भी कैसी भव्य है। सुनिए—

"नारायन ब्रजभूमि को, सुरपति नावैं माथ,
जहाँ आय गोपी भये, श्रीगोपेश्वरनाथ।
श्रीगुरु-चरन-सरोजरज, बंदौं बारबार,
नारायन भव-सिंधु हित, जे नौका सुकुमार।
जाके मन में बस रही, मोहन की मुसिक्यान,
नारायन ताके हिये, और न लागत ज्ञान।
अजा पुत्र मैं-मैं कहत, दिए आपने प्रान,
नारायन मैंना भली, लाय मर्यादा सान।"

ब्रजभाषा ही नहीं, खड़ी बोली के कवि भी पंजाब में हुए
स्वामी रामतीर्थजी की रचनाएँ अपने ढंग की निराली हैं। इ
प्रत्येक पद से परमात्मा का प्रेम और देशानुराग टपकता है।
पंक्तियाँ उनकी भी सुनाता हूँ—

"हम रूखे टुकड़े खाएँगे, भारत पर वारे जाएँगे।
हम सूखे चने चबाएँगे, भारत की बात बनाएँगे।
हम नंगे उम्र बिताएँगे, भारत पर जान मिटाएँगे।
शूलों पर दौड़े जाएँगे, काँटों को राख बनाएँगे।
हम दर-दर धक्के खाएँगे, आनँद की झलक दिखाएँगे।
सब रिश्ते नाते तोड़ेंगे, दिल एक आत्म सँग जोड़ेंगे।
सब विषयों से मुँह मोड़ेंगे, सिर सब पापों का फोड़ेंगे।"

क्षत्रिय को लक्ष्य कर स्वामीजी कहते हैं—

"धर्म की आन पर है जान कुर्बान,
गीदी बनकर न हो कभी हैरान।
वही क्षत्रिय है राम का प्यारा,

कवि ही नहीं, गद्य-लेखक भी पंजाब मे अच्छे-अच्छे हुए, और हैं। सबका सविस्तर वर्णन न कर कुछ चुने हुए लोगों की कुछ चर्चा कर देता हूँ। स्वामी निश्चलदास ने 'विचार-सागर' और "वृत्ति प्रभाकर"-नामक प्रसिद्ध वेदांत-ग्रंथ हिंदी मे लिखे हैं। इनके बारे में मैं अपनी ओर से कुछ न कह एक बंगाली सज्जन की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। बंगाल के परलोकवासी प्रसिद्ध देश-भक्त बाबू मनोरंजन ठाकुर अपनी "निर्वासित कहानी" में लिखते हैं—"प्राय: ३ सौ वर्ष पहले स्वामी निश्चलदास ने "विचार-सागर" और "वृत्ति-प्रभाकर" की रचना की थी। वृत्ति-प्रभाकर बड़ा चमत्कारिक ग्रंथ है। वर्तमान बंगभाषा के वैभवशालिनी होने पर भी इस श्रेणी के ग्रंथ उसके भांडार में नहीं पाए जाते।"

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'सत्यामृत-प्रवाह', "भाग्यवती" आदि पुस्तकें हिंदी में लिखी थीं, जिनका तीस-चालीस वर्ष पहले बड़ा आदर था।

पं० आर्यमुनि ने छ शास्त्रों, उपनिषदों और गीता का हिंदी में उल्था किया है। पं० राजाराम शास्त्री ने भी संस्कृत-ग्रंथों का हिंदी में भाषांतर किया है।

पं० हरमुकुंद शास्त्री ने कलकत्ते के "भारतमित्र" का संपादन योग्यता के साथ आरंभ में बहुत दिनों तक किया। बाबू नवीन-चंद्रराय ने बंगाली होकर भी हिंदी की अच्छी सेवा की। इनकी पुत्री श्रीमती हेमंतकुमारी देवी आज भी हिंदी की सेवा करती हैं, और प्राय सम्मेलन मे सम्मिलित होती हैं। स्वामी सत्यदेव भी अमेरिका की "आश्चर्य जनक घंटी" से हिंदी का हितसाधन कर रहे हैं।

वर्तमान लेखकों में अध्यापक रामदेवजी और भाई परमानंद-जी विशेष उल्लेख्य हैं। स्वामी श्रद्धानंदजी ने कांगड़ी में गुरुकुल स्थापित कर हिंदी का हितसाधन किया है। वहाँ हिंदी द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती है।

आर्यसमाज ने भी हिंदी का अच्छा प्रचार किया है। स्वामी दयानंदजी के "सत्यार्थप्रकाश" से हिंदी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। आर्यसमाज के उपदेशकों ने जैसे हिंदी का प्रचार किया, वैसे ही सनातन धर्म के उपदेशकों ने भी किया। श्रद्धेय पूज्य पंडित दीनदयालु शर्मा की वाणी ने भी हिंदी-प्रचार में बड़ा काम किया। आपने काश्मीर से कलकत्ते, और मद्रास से मुम्बई तक हिंदी का डंका बजा दिया है। डी० ए० वी० कॉलेज, सनातन-धर्म कॉलेज, दयालसिंह कॉलेज, हिंदूकन्याविद्यालय और जालंधर-कन्यामहाविद्यालय में हिंदी को स्थान मिला है।

मित्र-विलास, हिंदू बांधव, भारत-भगिनी, स्वदेशबंधु, प्रभात, उषा, चाँद, पांचालपंडिता, सद्धर्म प्रचारक, इन्दु, स्वदेशवस्तु-प्रचारक, ज्ञानिया-प्रचारक आदि पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, परंतु खेद है, एक एक कर सब बंद हो गईं। पंजाब में आजकल बस "ज्योति" की ज्योति है। इसका संपादन श्रीमती विद्यावती सेठ करती हैं।

हिंदी की वर्तमान दशा

सज्जनो, अब हिंदी की वर्तमान दशा के संबंध में कुछ निवेदन करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि इधर दस-बारह वर्षों से हिंदी ने आशातीत उन्नति की है, और कर रही है। प्राय: सब प्रांतों में इसका प्रचार दिन प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। देश के प्राय सब

विद्वानों ने इसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है, और करते जाते हैं। राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, तथा काव्य आदि विविध विषय की नित्य नई पुस्तक-पुस्तिकाएँ धड़ाधड़ निकल रही हैं, जिनकी छपाई-सफाई और कागज की बड़ाई जितनी की जाय, थोड़ी है। राजनीति और असहयोग की जितनी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुई हैं, उतनी शायद किसी दूसरी भाषा में नहीं हुई। सचित्र और अचित्र मासिक पत्र-पत्रिकाओं की भी यथेष्ट सख्या है। पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की कौन कहे, दैनिक पत्र भी आधे दर्जन से ज्यादा निकल रहे हैं। इन मे ३ तो सिर्फ कलकत्ते से, १ काशी, २ कानपुर, १ दिल्ली और १ लखनऊ मे प्रकाशित होता है। "भारतमित्र" ने ही दैनिक सस्करण का पथ दिखाया है। और पत्र उसके बाद निकले हैं। सभा-समितियाँ और नाटक-मंडलियाँ भी बड़े-बड़े नगरों में स्थापित हो अपना-अपना काम मजे में कर रही हैं। पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थान-स्थान पर स्थापित हो रहे हैं। काशी का ज्ञान-मंडल और प्रयाग की विज्ञान-परिषद् विशेष उल्लेख के योग्य हैं। इनसे हिंदी का बड़ा उपकार हो रहा है।

हिंदी-विद्यापीठ का भी श्रीगणेश हो गया है। सभी हिंदी के प्रचार और उन्नति में दत्तचित्त हैं। रजवाड़ों में भी हिंदी की घुसपैठ होती जाती है। बड़ोदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर, इन्दौर और रीवाँ के नरेशों ने राष्ट्रभाषा हिंदी का आदर कर दूरदर्शिता दिखाई है। युद्ध के समय देशीसिपाहियों के मनोरंजनार्थ विलायत से एक सचित्र पत्र निकलता था, जिसमें हिंदी को भी स्थान मिला था। महात्मा गांधी की कृपा से कॉंग्रेस में भी हिंदी

पहुँचकर अपना आसन जमा बैठी है। हिंदी के लेखकों, लेखिकाओं और कवियों की संख्या बढ रही है। तात्पर्य यह कि हिंदी-साहित्य-संसार की बाहरी दशा संतोषजनक है।

भीतरी दशा

हिंदी की बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी नहीं। इसका कारण लेखकों और कवियों की अहम्मन्यता और हठधर्मी है। भाषा की शुद्धता और स्वच्छता की ओर किसी का ध्यान नहीं है। सभी अपना-अपना पांडित्य प्रकट करने में लगे हैं, कोई किसी की नहीं सुनता। सभी ऐंठासिंह बन गए हैं। इससे हिंदी के शील, शैली और सौंदर्य का सत्यानाश हो रहा है। न वर्णविन्यास का ठिकाना, और न वाक्यरचना का। "मनमानी घरजानी" का बाजार गरम है। सच्चे समालोचक के अभाव से ही लेखकों की यह स्वेच्छाचारिता बढ गई है। यदि यह शीघ्र न रोकी जायगी, तो पीछे बड़ी हानि होगी। सम्मेलन को अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

परलोकवासी मित्रवर बाबू बालमुकुंद गुप्त की याद इस समय आती है। वह "हिंदी बंगवासी" और "भारतमित्र" के संपादन-काल में प्राय समालोचनात्मक लेख लिखा करते थे। इसका प्रभाव भी अच्छा पड़ा था। उनकी समालोचना के थपेड़े से कितने ही लेखक और कवि राह पर आ गए थे। आज कल लेखक और कवि स्वेच्छाचारिता करने पर जैसे उतारू हो जाते हैं, वैसे उस समय नहीं हो सकते थे। गुप्तजी साहित्य की मर्यादा-भंग करने वाले को कभी क्षमा न करते थे, और न मर्यादा-रक्षा करनेवाले का उत्साह बढ़ाने में कभी कोई त्रुटि।

काशी के भारतजीवन प्रेस से "चित्तौर चातकनी" और "अश्रुमती" नाम के दो उपन्यास निकले थे। ये दोनों ही बँगला के उल्था थे। इनके कथानक का आधार उदयपुर के राणा थे। इन दोनों में ऐसी कल्पित कथाएँ थीं, जिनसे हिंदूपति राणाओं के वश पर धब्बा लगता था। गुप्तजी यह सहन न कर सके। उन्होंने इनके विरुद्ध लेखनी उठाई, और उनको गंगा-प्रवाह कराके छोड़ा। मूल बंगला-लेखक ने भी अपनी भूल मान ली थी। उस समय के "हिंदी बंगवासी" और "भारतमित्र" इसके प्रमाण हैं। इन्हीं गुप्तजी के देहावसान पर हिंदी के एक सुलेखक ने शोक के बदले आनंद मनाया था। उसने अपने पत्र में लिखा था कि "चलो अच्छा हुआ, अब हिंदी के लेखक स्वतंत्र होकर लिखेंगे।" इसमें जरा भी संदेह नहीं कि लेखक जरूर स्वतंत्र हो गए, पर बेचारी हिंदी की हत्या हो रही है। मुहावरों का मूड़ इस तरह मूड़ा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौका ही नहीं। कहीं व्याकरण का बहिष्कार होता है, तो कहीं कोप का काया-कल्प। कोई वर्णविन्यास विपर्यय करता है, तो कोई शैली का संहार। उल्था भी ऊटपटांग होता है। बंगाल की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी का होशहवास गुम है। अंगरेजी के अंधड़ ने तो और भी आफत ढाई है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, तो कोई ब्रजभाषा का बहिष्कार। कोई संस्कृत-शब्दों की सरिता बहाता है, तो कोई ठेठ हिंदी का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में

सभी ठाकुर हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में आलोचना की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि समालोचक माली साहित्य-वाटिका मे काट-छाँट न करे, तो गुलाब को धतूरे दबा लेंगे, इसमें संदेह नहीं। हिंदीसाहित्य-वाटिका की रक्षा करना क्या सम्मेलन का कर्तव्य नहीं है?

हिंदी मे बिंदी

कुछ लोग हिंदी में बिंदी लगाने के तरफदार हैं। ड ढ के नीचे बिंदी लगाने की बात नहीं है। बात है अरबी-फारसी के लफ्ज़ों में नुक़्ता लगाए जाने की। तलफ्फ़ुज़ के लिहाज से ही वे ऐसा करते हैं, पर यह नहीं सोचते कि इस बिंदी मे हिंदी की चिंदी निकल रही है। बिंदी की बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि कन्नौज में भी नुकता लग गया। भला कन्नौज के क में नुक्ता लगाने की क्या जरूरत? न तो अरब या फारस से यह आया, और न उनसे इसका कोई संबंध ही है। प्राचीन कान्यकुब्ज-देश का रूपांतर ही तो कन्नौज है। फिर यह जुल्म क्यों? जो अरबी-फारसी के आलिम-फाजिल नहीं हैं, वे नुकता लगाने में अकसर भूल करते हैं। एक बार एक प्रसिद्ध विद्वान् वकील साहब ने अपनी वकालत क क में नुक्ता लगा दिया था। बात यह है कि मौलवी साहब के मक्तब की हवा खाए बिना नुक्ता लगाना नहीं आ सकता। पर हिंदी लिखने मे इसकी जरूरत ही क्या? जो जानकार हैं, वे नुकता बिना भी ठीक पढ़ लेंगे, और जो नहीं हैं, वे हिंदी की तरह पढ़ लेंगे। हाँ, जो भाषातत्त्वविद् हैं, वे मर्ज मे बिंदी लगा सकते हैं। पर सब लोगों को इसके फेर में न पड़ना चाहिए। हिंदी को बिंदी से पाक-साफ ही रखना अच्छा है। सीधी-सादी हिंदी को नई

उलझन में ,फँसा उसे जटिल बना देना अनुचित और हानि-कारक है।

वर्ण-विन्यास

इसमें भी बड़ी गड़बड़ है। कोई 'गयी' को दीर्घ ईकार से लिखता है, और कोई य में ईकार लगाकर। इसी तरह 'सकता' को कोई क त मिलाकर लिखता है, और कोई अलग करके। हुआ, हुया, हुये, हुए, हुई, हुयी आदि बहुत से शब्द हैं, जो मनमाने तौर से लिखे जाते हैं। इनका फैसला हो जाय, और सब कोई एक तरह से लिखें, तो बड़ा सुबीता हो। राष्ट्रभाषा हिंदी का ऐसा नियम हो जाना चाहिए, जिसमें सब कोई सहज ही इसे सीख सकें। 'सकता' में क त मिला कर लिखना ठीक नहीं, क्योंकि सकना धातु से 'सकता' बना है। धातु-रूप में तो क त संयुक्त नहीं हैं, फिर 'सकता' में संयुक्त क्यों होंगे ? इसी तरह 'नया' शब्द का स्त्रीलिंग 'नयी' और बहुवचन 'नये' होना उचित है, क्योंकि पुल्लिंग से स्त्री-लिंग बनाने में आ की ई हो जाती है,जैसे घोड़ा से घोड़ी। इसी प्रकार 'नया' का 'नयी' होना उचित है। बहुवचन में जैसे घोड़ा से घोड़े बन जाता है, वैसे ही 'नया' से 'नये'। स्वर ई और ए से नयी-नये लिखना अनुचित ही नहीं, अशुद्ध भी है। यही हाल गया, गयी और गये का है। स्वर ई से गयी लिखना गलत है। हाँ, हुआ, हुई, हुए में स्वर से जरूर काम लेना चाहिए, क्योंकि स्वरान्त शब्दों का स्त्रीलिंग और बहुवचन स्वरान्त ही होना युक्तियुक्त है।

पर कुछ लोग उच्चारणानुयायी वर्णविन्यास Phonetic Spelling की दुहाई दे मनमानी करते हैं। यह अनुचित है।

वह हिंदी के लिये नई चीज नहीं है, पर सब जगह उसकी दुहाई देने से काम न चलेगा। उच्चारण के अनुसार लिखने से शब्दों के अनेक रूप बन जायँगे। इससे सुबीते के बदले और भी कठिनता होगी। पहले घबराहट को ही लीजिए। उच्चारण-भेद से ही आजकल इसका रूप 'घबडाहट' हो गया है। इसी तरह और भी कई शब्दों के दो रूप हो गए हैं। यह बात ठीक नहीं। इसके सिवा प्रत्येक प्रांत अपने अपने उच्चारण का पक्षपात करेगा। विहार के पटने में "बाजाड के कडेले की तडकाडी से पेट में दडद" होता है। तिरहुत में "कोरा मारकर सरक पर घोरा दौराया जाता है।" आगरा प्रांत के लोग "वड़ के खेत में वड़ को मिच खिला बुज्ज पै फस्स बिछाते हैं।" बीकानेर में "अपने मतलब से चोर कपडते हैं," पकडते नहीं। इसी तरह पंजाब में भी "मद्र के अद्र बद्र देख शमशान का समरन" होता है। फिर कहाँ का उच्चारण टकसाली माना जायगा? सभी प्रांतवाले अपना-अपना सिक्का जमावेंगे, जिसका परिणाम उच्छृङ्खलता के सिवा और कुछ न होगा। इसलिए हर हालत में Phonetic Spelling की दुहाई देना हिंदी के लिये हानिकारक है।

कोष

अच्छे कोष का अभाव अभी तक बना हुआ है। जो हैं, उनमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। ठेठ हिंदी-शब्द ढूँढने से भी नहीं मिलते। इसी हेतु बहुत-सी प्राचीन कविताओं का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। काशी-नागरीप्रचारिणी का कोष अभी तक पूरा नहीं हुआ। हो भी, तो उससे जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं निकलेगा।

व्याकरण

इसकी तो बड़ी मिट्टी पलीद हो रही है। अधिकांश लेखक और कवि लिखने के समय व्याकरण को ताक पर रख देते और डंके की चोट उसका बहिष्कार करते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं कि हिंदी में अभी व्याकरण ही नहीं है। पर यह उनकी सरासर भूल है। हिंदी मे व्याकरण था, और है। नहीं हैं उसके माननेवाले। हाँ यह बात जरूर है कि व्याकरण की सर्वांग सुंदर पुस्तक अभी तक नहीं छपी है। जो दो-चार आँसू पोंछने के लिये हैं, उनकी कोई परवा नहीं करता है। पं० केशवराम भट्ट और पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के व्याकरण अपने ढंग के अच्छे हैं, पर वाजपेयीजी ने हिंदी की संधि के सिद्धांतों में पड़कर उसे जरा जटिल कर दिया है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का व्याकरण देखने का सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

व्याकरण के अंतर्गत ही लिंग, वचन और कारक हैं। इनकी भी छीछालेदर हो रही है। कोई नियम का पालन नहीं करता। पहले लिंग-विपर्यय को ही लीजिए।

लिंग-विचार

इसका पूरा वर्णन मैं इसी पुस्तक के 'हिंदी-लिंग-विचार'-शीर्षक परिच्छेद में कर चुका हूँ। अब उसे यहाँ फिर दुहराना अनुचित है। पर इतना जरूर कहूँगा कि हिंदी के लिंग-प्रकरण की बड़ी दुर्दशा हो रही है। कोई तो संस्कृत-रीति से उसका प्रयोग करता है, कोई उर्दू तरीके से, और कोई मनमाने तौर से। नतीजा यह हुआ कि बहुत से शब्द उभयलिंगी हो गए। यह ठीक नहीं।

उर्दू वाले "धरमसाले" में "पाठसाले का चर्चा" कर "माहनमाले से अपना "मान-मर्यादा" बढाते हैं, और हिंदीवाले "अपनी कबीला" की "हुलिया" अपनी "तायफा" को बता "उमदी धोती" न दे, "बेहूदी बातें" बक "ताजी खबरें" सुनाते हैं। संस्कृतवाले भला क्यों चुप रहने लगे। वे भी "पवित्रा धर्मशाला" में "विदुषी व्यक्तियों" को बुला "नयो देवता" के आगे "धधकते हुए अग्नि" में "अपना आत्मा" अर्पण करते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं? कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी मे धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दू वालों ने इन्हे पुल्लिग बना रक्खा है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफा पुल्लिंग हैं, पर हिंदी के रंगरूटो ने इन्हे स्त्रीलिंग कर डाला है। उमदा, बेहूदा, ताजा वगैरह लफ्ज स्त्रीलिंग में कभी उमदी, बेहूदी, ताजी नहीं बनते हैं। इनका रूप सदा एकसा रहता है। व्यक्ति और देवता संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी मे पुल्लिग हैं, और अग्नि तथा आत्मा संस्कृत मे पुल्लिंग, पर हिंदी मे स्त्रीलिंग हैं। धर्मशाला स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी मे 'पवित्र' धर्मशाला ही कहलायेगी, 'पवित्रा' नहीं।

लिंग-प्रयोग की विभिन्नता यहीं समाप्त नहीं। आगे और भी विचित्रता है—

"नागरीप्रचारिणी-सभा" के रहते हिंदी साहित्य-सम्मेलन की "स्थायी समिति" (स्थायिनी नहीं) अभागी (अभागिनी नहीं) हिंदी की शोचनीय स्थिति (शोचनीया नहीं) देख "स्वतंत्रवादी महिला" (वादिनी नहीं) की भाँति "प्रभावशाली देवता" (शालिनी नहीं) से प्रार्थना कर रही है। इधर "उपयोगिनी पुस्तक" में "शृंगार-

संबंधिनी चेष्टा" देख "कार्यकारिणी सरकार" से "प्रभावशालिनी वक्तृता" में "परोपकारिणी वृत्ति" का परिचय भी दिया जाता है। पर यह कोई नहीं पूछता कि पुस्तक-शब्द ने संस्कृत में कबसे स्त्री का रूप धारण कर लिया, जो उसका विशेषण "उपयोगिनी" बना है। हिंदी में पुस्तक जरूर स्त्रीलिंग है, पर यहाँ उपयोगी कहने से ही काम चल सकता है।

आजकल 'भलीभाँति' के वजन पर 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' का चलन चल गया है, पर यह 'तौर' अच्छा नहीं, और न 'प्रकार' ही भला है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्राय सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं। पंजाब भी इस पाप से मुक्त नहीं। यहाँ "तारें आती हैं," और "खेलें होती हैं", पर तार और खेल हिंदी में पुलिंग हैं।

प्रांतीयता के प्रेम का परित्याग कर दिल्ली, मथुरा तथा आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सब को करना चाहिए, क्योंकि यहाँ के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं।

वचन

वचन में भी बड़ी गड़बड़ है। लताएँ, शिलाएँ और माताएँ के वजन पर कुछ लोग स्त्रीएँ, नारिएँ और बेटिएँ लिखते हैं, पर ये अशुद्ध हैं। इसके शुद्ध रूप बहुवचन में स्त्रियाँ, नारियाँ और बेटियाँ हैं। एकवचन लड़का, बहुवचन लड़के ठीक है, पर राजा का बहुवचन राजे अशुद्ध है।

विभक्ति

इसका भी झगड़ा बहुत दिनों से है। बहुत-कुछ लिखा पढ़ी अखबारों में हुई, पर नतीजा कुछ न निकला। इसके दो दल हैं।

एक दल तो सटाऊ सिद्धात का है, और दूसरा हटाऊ का। सटाऊ विभक्तियों को प्रकृति से मिलाकर लिखते हैं, पर हटाऊ अलग। श्रद्धेय प० गोविंदनारायण मिश्र ने "विभक्ति-विचार" में इसकी विशेष व्याख्या की है। मैंने भी "विभक्ति-प्रत्यय"-शीर्षक लेख में प्रकृति प्रत्यय मिलाकर लिखना ही व्याकरण-सगत और युक्तियुक्त सिद्ध किया है। इसके सिवा विभक्ति मिलाकर लिखने से कागज की बडी बचत होती है। आशा है, इस पुराने विवादग्रस्त विषय की मीमासा सम्मेलन शीघ्र करेगा।

वाक्य-रचना

इसमें भी बडी विचित्रता है। प्राय लोग लिखते हैं "सपादक भारतमित्र"। इसका अर्थ हिंदी व्याकरण के अनुसार होता है सपादक का भारतमित्र। पर लिखनेवाले का यह तात्पर्य नहीं है। उसका अभिप्राय है "भारतमित्र का सपादक"। इसलिये "भारतमित्र-सपादक" लिखना ही शुद्ध है। इसी प्रकार महाराज बीकानेर न लिखकर बीकानेर-महाराज लिखना चाहिए। यह लिखना भी गलत है—"षष्ठ युक्तप्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन मुरादाबाद के सभापति", क्योंकि सभापति का सबध मुरादाबाद से नहीं, सम्मेलन से है। इसलिये "मुरादाबाद षष्ठ हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के सभापति" लिखना शुद्ध है। इसी तरह प्रसिद्ध पंजाबी प्रयोग "मैंने कहा हुआ है", और बिहारी प्रयोग "हम कहे" आदि अशुद्ध हैं। नए लेखकों को इन बारीकियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

शैली

शैली का भी कोई सिद्धात स्थिर नहीं। जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार की शैलियाँ बन गई हैं। कोई संस्कृत के बड़े-

बड़े शब्द और समस्यत पद प्रयुक्त करता है, कोई प्रचलित सरल संस्कृत शब्दों को छोड़ ठेठ हिंदी के शब्दों का प्रयोग करता है। कोई अरबी-फारसी के बड़े-बड़े अलफाज काम मे लाता है, कोई प्रचलित विदेशी शब्दो को छोड संस्कृत के कठिन शब्दो का व्यवहार करता और कोई सबकी खिचडी पकाता है।

अब प्रश्न है कि कैसी भाषा लिखनी चाहिए?

मेरी समझ से विषय के अनुकूल भाषा होनी चाहिए। इसके लिये कोई नियम स्थिर कर लेखकों को जकडबध करना अनुचित है। इसके सिवा भाषा वही अच्छी है, जो सबकी समझ मे आवे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने भी सरल भाषा ही पसद की है।

बँगला के प्रसिद्ध लेखक "वदेमातरम्" वाले वकिमचद्र कहते हैं—"रचना का प्रधान गुण और प्रयोजन सरलता और स्पष्टता है। वही सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसे सब कोई समझ सकें—पढते ही जिसका अर्थ समझ में आ जाय और अर्थ-गौरव भी रहे।"

बात भी यही है। सरलता और स्पष्टता के साथ भाषा का सौन्दर्य भी हो। लिखने के पहले देख लेना चाहिए कि कैसी भाषा लिखने से सबको समझ में आ जायगी। अगर बोल-चाल की भाषा में भाव भली भाँति प्रगट हो सके, तो क्लिष्ट भाषा की क्या आवश्यकता है? यदि संस्कृत-शब्दों से भाव अधिक स्पष्टता और सुदरता के साथ व्यक्त हो, तो तद्भव शब्द छोडकर तत्सम शब्द प्रयुक्त करना युक्तियुक्त है। इससे भी काम न चले, तो कठिन शब्दों का व्यवहार भी बुरा नहीं। 'मा बाप' से काम न चले, तो 'माता-पिता' के निकट जाने में क्या हानि है। आवश्यकता हो तो 'जनक-जननी' की भी शरण लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि विषय के

अनुकूल ही भाषा होनी चाहिए, पांडित्य प्रकट करने के लिये नहीं।

देश-काल-पात्र के भेद से क्लिष्ट और सरल भाषा का प्रयोग करना उचित है। श्रीगणेशाय और बिसमिल्लाह करने की जगह है। सब जगह गाय बैल और भेड़-बकरियों से काम न चलेगा। मौक़ा-महल देखकर धेनु और मेष से भी काम लेना होगा। पर याद रहे, मुसकिराना छोड़ सदा ईषत् हास्य ठीक नहीं। डकार लेने में जो मज़ा है, वह उद्‌गार में नहीं। काली-कलूटी में जो आनंद है, वह कृष्ण-कलेवरा में नहीं। यही हाल जमहाई और जृम्भन का है।

मिल्टन के समय अँगरेज़ी बड़ी क्लिष्ट और शब्दाडंबर से परिपूर्ण थी। ड्राइडन ने फ्रांसीसी गद्य के आदर्श पर सरल अँगरेज़ी की चाल चलाई। पीछे जोनसन ने लैटिन भाषा के बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग कर उल्टी गङ्गा बहाने का प्रयत्न किया, किंतु सफल न हुआ। गोल्डस्मिथ की भाषा लोगों ने पसंद की, और उसी समय से सरल भाषा की ओर लेखकों का झुकाव हुआ, और अब तक है।

कुछ लोग विशुद्धता के इतने पक्षपाती हो गए हैं कि वह प्रचलित विदेशी शब्दों को चुन-चुन कर हिंदी भाषा से निकाल रहे हैं, और उनकी जगह अप्रचलित तत्सम शब्द चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। इससे हिंदी को हानि के सिवा लाभ नहीं है, क्योंकि अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के जो शब्द हिंदी में घुल-मिल गए हैं, उन्हें निकाल देना हिंदी का अंगच्छेद करना है। लालटेन, डिगरी, समन, वारंट, स्टेशन, रूमाल, मोज़ा, मसजिद,

नमाज, मजदूर, गुलाम, गरीब आदि अब हिंदी की सपत्ति हैं। इन्हें छोडना हानिकारक है। मोजे की जगह 'पादावरण' और रूमाल के बदले 'मुखमार्जन वस्त्रखंड' का व्यवहार करने से असुविधा होगी। सीधे 'स्टेशन' न जा 'वाष्पयानस्थिति-स्थान' जाने में बडी दिक्कत है। सप्तम हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के सभापति प० रामावतार शर्मा तो विदेशी शब्दों के इतने विरोधी हैं कि उन्होंने अपने भाषण मे ऑक्सफोर्ड को 'ऊक्षप्रतर', केमब्रिज को 'कामसेतु' और न्युयॉर्क को 'नवार्क' बना डाला है। उनका कहना है कि योरपवालों ने हिंद को इंडिया कर डाला, तो हम लदन को "नदन" क्यों न करें। किसी अश में यह बात ठीक भी हो सकती है, परंतु प्रचलित शब्दों के परित्याग करने का मैं पक्षपाती नहीं, और न हिंदी शब्दों के रहते तत्सम या विदेशी शब्दों के प्रयोग का समर्थक हूँ। सन् १८९९ ई० में काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी के विद्वानों की सम्मति लेकर हिंदी की लेखप्रणाली के सबध में जो मीमासा की, वह इस प्रकार है—"सारांश यह कि सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे सस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को और सबके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।" लेख-शैली के विषय में भी उसका निश्चय यह है—"भिन्न-भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ या लेख इस प्रयोजन से लिखे जायँ कि सर्वसाधारण उन्हें समझ सकें, उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्वबोधगम्य हो।"

आरा की नागरीप्रचारिणी सभा ने भी हिंदी के पंडितों की सम्मति ले "हिंदीसिद्धांत प्रकाश" नामकी पुस्तिका प्रकाशित की है। उसमें लिखा है—"भाषा उद्देश्य के अनुसार लिखी जानी चाहिए। समाचारपत्र और विज्ञापन की भाषा सरल होनी उचित है, क्योंकि सर्वसाधारण इसके अधिकारी हैं। बालक, स्त्री और साधारण जनों के पढने के लिये जो पुस्तकें लिखी जायँ, वे अत्यंत सरल हों। खेल, व्यायाम तथा वाणिज्य-संबंधी पुस्तकों में नाम-मात्र की भी कठिनता न रहनी चाहिए।" आशा है, लेखक हिंदी के शील और शैली की रक्षा करेंगे।

बेमेल शब्द

हिंदी के कुछ सुलेखक "उच्च खयाल", "हिंदी के गौरव का जमाना", "खास श्रेणी", "हर समय, "खास कारण", "काफी संख्या", "खतरनाक प्रवृत्ति", "प्रतिकूल राय", "तादृश परवा", "इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती हैं" आदि पद और वाक्य लिखने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यह गङ्गा-मदार का जोडा अच्छा नहीं। गौरव का जमाना या युग! जमाना तो फस्ल का ही अच्छा है। इसी तरह उच्च विचार और ऊंचा खयाल, विशेष श्रेणी और खास दरजा, प्रति समय और हर वक्त, विशेष कारण और खास सबब, यथेष्ट संख्या और काफी तादाद, तथा प्रतिकूल सम्मति और खिलाफ राय आदि होना उचित और मुनासिब है।

उल्था

सज्जनो, उल्था करना बुरा नहीं, पर उल्था करनेवाले को दोनों भाषाओं पर (जिससे उल्था करना है, और जिसमें करना है) पूरा अधिकार होना-चाहिए। अनधिकारी का उल्था कभी ठीक नहीं

होता। बगला के अनुवाद को ही लीजिए। अधिकाश अनुवाद अशुद्ध और बँगलापन से भरे हुए हैं। प्रकाशक भी आँखें मूदकर अनुवाद कराते और छापते हैं। इससे हिंदी का गौरव बढने के बदले घटता जाता है। मूल लेखक के भाव भ्रष्ट होने के सिवा हिंदी का हिंदीपन भी नष्ट होता है। अनधिकारी अनुवादक के अनुग्रह से हिंदी में बेंगलापन बेतरह बढता जाता है।

दिग्दर्शन के लिये कुछ उदाहरण उद्धृत करता हूँ। सब से पहले "गल्प" को ही लीजिए। आजकल गल्प की कल्पना अल्प नहीं, अधिक होती जाती है। यह ठेठ बँगला का शब्द है, सस्कृत का नहीं। पर हिंदीवाले आँखों पर पट्टी बाँधकर इसका व्यवहार कर रहे हैं। कथा, कथानक, उपाख्यान, क़िस्से, कहानी के रहते "गल्प" का गौरव बढाना बेजा है। यों ही "सुहाग रात" के रहते "फूल शेयावाली रात्रि' की अपेक्षा अच्छी नहीं।

बँगला में एक मुहावरा है "भूतों के बाप का श्राद्ध करना।" इसका मतलब है "नाई की बरात में सभी ठाकुर।" पर एक पुराने अनुभवी अनुवादक ने हिंदी में भी भूतों के बाप का श्राद्ध कर डाला है। हिंदी के पाठक इसका क्या अर्थ समझते होंगे, यह परमात्मा ही जाने।

एक सपादक महाशय ने "पटलतोला" का तर्जुमा परवल तौलना किया है, *हालाँ कि इसका अर्थ मृत्यु या मौत है।*

बगदेश का नाम है बगाल। बगाल के रहनेवाले बगाली और बगाल की भाषा बँगला कहलाती है। पर हमारे प्राय हिंदी-लेखक बँगभाषा की जगह बगाली-शब्द का प्रयोग करते हैं। यह सरासर अशुद्ध और अनुचित है। हाँ, अंगरेजी में बगनिवासी और बग-

भाषा, दोनों के लिये बँगाली शब्द का प्रयोग अवश्य होता है, पर इसकी नक़ल पर हमें भ्रम में न पड़ना चाहिए। उल्था करनेवाले 'फ़ारम' पूरा करने की धुन में इन बातों की परवा नहीं करते, और न प्रेमी प्रकाशक ही इधर ध्यान देते हैं। इससे हिंदी का हित न हो, हानि हो रही है।

मराठी और गुजराती से भाषांतर करनेवालों ने "लागू" "चालू" आदि शब्द हिंदी में चला दिए हैं।

अँगरेजीवाले भी कम अंधेर नहीं करते। वह "आत्मशासन" न कर "स्वास्थ्य-पान" करते और अपनी "साधारण आत्मा" का परिचय दे शिमले में "स्वास्थ्य-सचय" करते हैं। घर के कामों में "भाग न ले" पबलिक कामों मे "स्वार्थ लेते हैं।" कुछ कहो, तो "थेइज्जो जेब में रख" "आस्तीन में हँसते हैं।" "ईमानदार" तर्जुमा कर अँगरेजो का "सुवर्णयुग" लाने के लिये हिंदी के "चाय के प्याले में तूफ़ान उठाते हैं।" "अनुकूल वायु' में पाल उड़ा माता-पिता को "प्रिय पिता" "प्रिया माता" सबोधन कर "रम्य रजनी" कहते और "दोहचेता" बन हिंदी को जहन्नुम भेजते हैं।

अँगरेजी न जाननेवाले भला इसका क्या अर्थ समझेंगे ? 'स्वास्थ्य पीना', 'भाग लेना', 'स्वार्थ लेना', आदि हिंदीवालो के लिये नई चीज है। अँगरेजी में "स्वास्थ्य पीने" की भले ही चाल हो, पर हिंदीवाले कभी किसी का स्वास्थ्य नहीं पीते। हाँ प्रेम का प्याला पी सकते हैं। देवता यज्ञ में भाग लेते थे, घर के कामों में कैसे भाग लिया जाता है, यह वह नहीं जानते। हाँ, हाथ जरूर बटा सकते हैं। इसी तरह 'पबलिक कामों में स्वार्थ लेने से' की जगह 'उसमें उनका अनुराग या प्रेम है', लिखना अच्छा है।

अक्षरानुवाद न कर अपनी भाषा-प्रणाली के अनुसार भावानुवाद मर्मानुवाद या छायानुवाद करना उत्तम है। अक्षरानुवाद से भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है।

अशुद्ध शब्द

समालोचना के अभाव से अशुद्ध शब्दो का व्यवहार दिन-दिन बढता जाता है। संस्कृत शब्दों की कौन कहे, हिंदी के शब्द और पद की शुद्धता की ओर भी अधिकाश लेखक ध्यान नहीं देते। गड्डलिका प्रवाहवत् एक दूसरे का अनुकरण करते चले जा रहे हैं। उदाहरण के लिये 'अडचन' और "देख रेख" को देखिए। अडचन का शुद्ध रूप अडचल है। मेरी ही नहीं, चतुर्थ सम्मेलन के सभापति हिंदी के सुप्रसिद्ध सुकवि प० श्रीधर पाठक की भी यही राय है। वह अपने ता ३०—४—१८ के पत्र में लिखते हैं— "Bate's Dictionary"से अडचन लिखा है, परंतु मैं अडचल को शुद्ध रूप समझता हूं। अड (रोक)+चल (गति)=अडचल=विघ्न कठिनाई।"

देखरेख का शुद्ध रूप देख-भाल है, क्योंकि देखने-भालने से देख-भाल पद बना है। फिर देखरेख कहाँ से आया? देखना-रेखना तो कोई धातु नहीं। इस तरह के और भी शब्द हैं, जिन्हें विस्तार-भय से छोड दिया है।

कुछ लेखकों को संकरी सृष्टि का बडा शौक है। वे हिंदी क्रियाओं में संस्कृत-प्रत्यय लगाकर शब्द गढते हैं। यही नहीं, हिंदी और संस्कृत-शब्दो में संधि-समास भी कर डालते हैं। यह अनुचित है। संकरी सृष्टि के भी कुछ नमूने ले लीजिए। अकाट्य, सराहनीय, चाहक, उपरोक्त, करजोड, तकावी-पद्धति, भारतसरकार, जिलाधीश इत्यादि।

अँगरेजी हिंदी की मिलावट भी लीजिए—सबूट, कोट-पैंटधारी, स्कूल-भवन, गैस प्रकाश आदि।

अशुद्ध संधि

अब अशुद्ध संधि के भी उदाहरण सुन लीजिए—

शुद्ध या शुद्ध (शुद्धाशुद्ध) भूस्याधिकारी (भूम्यधिकारी), अनुमत्यानुसार (अनुमत्यनुसार), जात्योन्नति (जात्युन्नति), पश्वाधम (पश्वधम), दुरावस्था (दुरवस्था), सन्मुख (सम्मुख) सन्त (सन्त्), मनोकामना (मनस्कामना) आदि।

असंस्कृत-शब्द

व्याकरण से असिद्ध शब्द भी खूब बरते जाते हैं। लावण्यता, माधुर्यता, सौन्दर्यता, राजनैतिक, एकत्रित, प्रसित, प्रदानित, ऐक्यता, मथित, सृजित, निर्माजित, अनुवादित, सिंचित, मान्यनीय, पौर्वात्य, पठित समाज, मनीषीवर्ग, नेतागण, प्रात कालीन, विद्वान-समाज आदि असंस्कृत शब्दों और पदों के उदाहरण हैं। ये न हिंदी-व्याकरण से सिद्ध हैं, और न संस्कृत-व्याकरण से। फिर भी इनका प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है।

फालतू शब्द

निर्दोष, निर्धन, नीरोग आदि के रहते निर्दोषी, निर्धनी, निरोगी की क्या जरूरत है?

अनुपयुक्त शब्द

उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग नहीं होता। शोक, खेद, विषाद, दुःख, परिताप आदि शब्दों का व्यवहार ही इसका प्रमाण है। कोई पत्रोत्तर न पाने पर 'शोक' करता है, और कोई अपने मित्र के मर जाने पर भी 'खेद' ही प्रगट करता है। आयु

शब्द आजकल उम्र के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। आयु का अर्थ जीवनकाल है, उम्र नहीं। उम्र के लिये वयस् शब्द उपयुक्त है। इसी प्रकार और भी कई शब्दों के साथ मनमानी की गई है।

पद्य

महानुभावो, साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य। हिंदी गद्य की गाथा तो गा चुका, अब पद्य की पर्यालोचना करता हूँ।

आजकल पद्य हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—ब्रजभाषा, खडी बोली और उर्दू।

खडी बोली और उर्दू में बस यही अंतर है कि पहली में संस्कृत और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अरबी, फारसी और हिंदी के। इन दोनों की गढन प्राय एकसी ही है। उर्दूवाले बहुत आगे बढ गए हैं, पर खडी बोलीवाले अभी खडे खडे ब्रजभाषा पर बिगड ही रहे हैं। बेचारी ब्रजभाषा की चाल निराली है।

खडीबोली के खड्ग-प्रहार से ब्रजभाषा की गति रुक-सी गई है। इसके सिवा पुराने कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं। इससे उनकी कविताओं में नवीनता का अभाव-सा रहता है। यदि ये लोग प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुकूल कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर बढे।

खडी बोली वाले बेतहाशा सरपट दौड रहे हैं। वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं। खडी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं, और बनते जाते हैं, पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोडे हैं। इनकी अधिकांश कविताएं तुकबंदी के सिवा कुछ नहीं। केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न शब्द-समूह का। "वाक्य रसात्मक काव्य।" रसात्मक वाक्य काव्य हैं। जिस

कविता से हृदय की कली न खिले, और चित्त तन्मय न हो, वह कविता कविता नही। भूषण के कवित्तों को श्रवण कर छत्रपति शिवाजी महाराज की नस-नस मे उत्साह और वीरता की बिजली दौड गई थी। बिहारी के एक ही दोहे पर जयपुरनरेश जयसिंह अंत पुर से दरबार में मंत्रमुग्ध दौडे चले आए थे। क्या आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविता होती है ? आजकल की अधिकाश कविताएँ भाव हीन भाषा हीन और रसहीन होती हैं।

गद्य की तरह पद्य में भी भाषा-सौष्ठव की ओर किसी का ध्यान नही है। जिसे देखिए, वही अपोगण्डभाषा में काव्य-कलेवर को कलंकित और कलुषित कर रहा है—भाषा दोगली, और छंद वही उपेंद्रवज्रा या "मार लातन मार लातन" आदि। खडी बोली की कविता में भाव का अभाव है, और ओज की खोज व्यर्थ है। लालित्य के तो सदा लाले पडे रहते हैं। प्रसाद का कहीं पता ही नहीं। रस क्या, रसाभास भी नही। अर्थ से न अर्थ, और न मतलब से मतलब। इन्हीं बातों से दु खी हो, काशीवासी श्रीयुत जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" अपने "समालोचनादर्श" में कहते हैं, और बहुत ठीक कहते हैं—

"पै अब केते भए हाय इमि सत्यानासी,
कवि औ जाँचक रस अनुभव सौं दोउ उदासी।
शब्द, अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं;
शक्तिनिपुनता औ अभ्यास लेस हू नाहीं।
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत विवेक बिन,
अहंकार सौं भरे फिरत फूले निज निसि दिन।

जोरि बटोरि कोउ साहित्य-ग्रंथ निर्माने,
अर्थशून्य कहुँ, कहूँ विरोधी लच्छन ठाने।
नहिं जानत अति व्याप्ति, और अव्याप्ति असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य, स्वयंभव।
जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो,
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।।"

वास्तव में इन खड़ी बोलीवालों ने बड़ा अत्याचार कर रक्खा है। भगवान इनसे हिंदी-साहित्य की रक्षा करे। गद्य-पद्य की भाषा में सदा से अंतर है, और रहेगा। हिंदी ही नहीं, अँगरेजी का भी यही हाल है। कवि वर्डसवर्थ गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहता था, पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया। खड़ी बोली के कवि भी बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का दम भरते हैं, पर रचते हैं विलक्षण भाषा में, जो न बोलचाल की भाषा है, न लिखने-पढ़ने की। इसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

"प्रफुल्लिता कोमल-पल्लवाविता, मनोज्ञता-मूर्त्ति नितांत-रंजिता।
वनस्थली थी मकरंद-मोदिता, अकीलिना-कोकिल-काकली-मयी"

"नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता,
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभंगिमा-पंडिता,
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता,
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनंद-आन्दोलिता"

सज्जनो, आप ही कहिए, क्या यह बोलचाल की भाषा है? कसम खाने के लिये हिंदी की बस एक "थी" है। इस "थी" को थले में बंद कर दीजिए फिर किसकी मजाल जो इन पंक्तियों को हिंदी कह सके। अच्छा, एक और सुनिए—

"था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्ज्वल जगमगा,
अब भयंकर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा।"

सज्जनो, हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव? हर्ष का तांडव हो भी सकता है, पर शोक का नाच खड़ी बोलीवालों की शायद नई उद्भावना है।

यह तो हुई भाव की भव्यता। अब भाषा का भोलापन भी देख लीजिए—

स्वागत सखे! आओ सखे! हम तुम परस्पर बाल हैं,
निज मातृभूमि-स्वदेश के गोदी भरे हम लाल हैं।"

हम-तुम परस्पर-मित्र हो सकते हैं, पर परस्पर-बाल नहीं, क्योंकि 'परस्पर-बाल' का अर्थ है हम तुम्हारे बालक और तुम हमारे बालक। पर यहाँ कवि का भाव ऐसा नहीं है।

खड़ी बोली के दो कवियों की चाशनी तो चखा चुका। अब तीसरे की चखिये—

"चपत हमें थपा सम लागैं, घूँसा फूल हजारा है;
लात खात मुख बात न बोलैं, अटल मौन विस्तारा है।
धम् धम् धम् दस-पाँच करैं जब गरई गदा प्रहारा है,
चलैं पैग भरि तब कहु ऐसो सहनशील हम धारा है।"

"सहनशील हम धारा है" या "सहनशीलता हमने धारी है?"

खड़ी बोलीवालों की एक नई उपज और सुन लीजिए। वे कहते हैं "वीररस की कविताओं में कानों को कोंचनेवाली परुष पदावली होने से हृदय उत्तेजित नहीं होता"। तो क्या कोमल-कांत पदावली से होगा? कभी नहीं। वीर-रस की कविताओं में कोमलकांत पदावली अस्वाभाविक ही नहीं, अनुचित भी है। इससे हृदय उत्तेजित

होने के बदले कुंठित हो जाता है। जिस समय सैनिक रणभूमि को जाते हैं, उस समय उनका उत्साह बढ़ाने के लिए हारमोनियम या बीन नहीं बजाई जाती, और न ठुमरी-टप्पे ही गाए जाते हैं, बल्कि जुझाऊ बाजे बजते, और वीर-रस-भरे कड़खे गाए जाते हैं। इससे योद्धाओं का उत्साह बढ़ता है, और वे जान-बूझकर जान देने के लिये आगे बढ़ते हैं। उस समय उन्हें कोमलकांत पदावली सुनाई जाय, तो वे लोग कभी मरने मारने को तैयार न होंगे।

जो स्वाभाविक कवि हैं, वे देश-काल-पात्र के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामायण के युद्ध-वर्णन में परुष पदावली का ही प्रयोग किया है। यथा—

"भये क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे,
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।"

इत्यादि।

अगर यहाँ "कंकन किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि" की-सी कोमलकांत पदावली होती, तो क्या इसमें यह ओज आ सकता था ? कदापि नहीं।

हिंदी ही नहीं, अन्यान्य भाषाओं में भी ऐसा ही होता है। कविकुल-कंठाभरण कालिदास ने "रघुवंश" में

"तद्दृत्याकाशगंगायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे"

लिखकर अपने काव्यकौशल का पूर्ण परिचय दिया है। इन शब्दों के उच्चारण से ही आकाशगंगा के घोर-कठोर कल-कलरव कानों में गूँजने लगते हैं।

इसी प्रकार अँगरेज़ी के महाकवि मिल्टन ने भी अपने "पैरेडाइज़ लॉस्ट" (Paradise Lost) नामक महाकाव्य में Chaos (केऑस) की भयंकरता दिखलाने के लिये लिखा है—

"❀ ❀ ❀ ❀ the dreaded name
of Demogorgon, ❀ ❀ ❀" इत्यादि।

इन भयकर शब्दों से वहाँ की भयकरता आप ही प्रकट हो जाती है—कवि को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ती।

वीररस के प्रधान आचार्य हिंदी के सुकवि "भूषण" की एक 'अमृतध्वनि' भी सुन लीजिए —

"गतबल खान दलेल हुअ, खान बहादुर मुद्ध,
सिव सरजा सल्हेरि ढिग, क्रुद्धद्धरि किय जुद्ध।
क्रुद्धद्धरि किय जुद्धद्धरि अरि अद्धद्धरि करि,
मुंडड्डरि तहँ रुंडड्डकरत डुँड्डुग भरि।
खेदिद्दरवर छेदिद्दय करि मेदद्दधि दल,
जंगग्गति सुनि रंगग्गलि अवरंगग्गत बल।"

खड़ी बोली के आचार्य तो इसमें फालतू "बाह्याडंबर, घटाटोप कृत्रिमता" के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते, पर मैं देखता हूँ कि रणभूमि का यह उपयुक्त वर्णन है। जब यह ताल-सुर से गाई जायगी, तब भीरु कापुरुषों की नस-नस में वीरता की बिजली चमके बिना न रहेगी। उत्तेजना के लिये तो यह "अमृतधारा" से बढ़कर है।

यही भूषण शिवाजी के प्रबल प्रताप का वर्णन, देखिए, कैसी सुंदर और सरल भाषा में करते हैं—

"ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं,
कंदमूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं, ते वै तीन बेर खाती हैं।

भूषग सिथिल अंग, भूषन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं, ते वै विजन डुलाती हैं,
भूषग भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं, ते वै नगन जड़ाती हैं"

इसकी भाषा भव्य, और रचना रोचक है। यमकालङ्कार भी है। कुछ लोग खडी बोली और ब्रजभाषा की खिचडी पकाते हैं। यह ठीक नहीं। खालिस खडी बोली हो, या विशुद्ध ब्रजभाषा। दोनों की खिचडी न पकनी चाहिए। इसकी जरूरत भी नहीं। खालिस खडी बोली में खासी कविता हो सकती है। बनानेवाला चाहिए। उर्दू भी तो खडी बोली ही है, देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं —

"बादेमुर्दन कुछ नहीं, यह फ़िलसफा मरदूद है,
फ़ौन ही को देखिए, मुर्दा है और मौजूद है।"

इन खुले शब्दों में कैसा व्यंग्य भरा हुआ है। सुनते ही दिल लोट-पोट हो जाता है। एक और सुनिए—

"कद्रमेशौक बढे इनकी तरफ क्या अकबर,
दिल से मिलते नहीं यह हाथ मिलानेवाले"

हाथ मिलानेवालों पर क्या अच्छा चोट है। बस एक और

"अपने मनसूबे तरक्की के हुए सब पायमाल,
बीज जो मगरिब ने बोया, वह उगा और फल गया।
पूट डासन ने बनारस, मैंने इक मजमूँ लिखा,
हिंद में मजमूँ न फैला, और जूता चल गया।"

कैसे मार्के की बात, कैसे अच्छे ढंग से, कही गई है। समझनेवालों की बस मौत है।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी व्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। कहा भी है—

"भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय।"

पर कोई भाषा तो हो। या वह भी नहीं? भाषा की शुद्धता सबसे पहले, पीछे भाव की भावना। भाव सुंदर होने पर भी यदि भाषा अशुद्ध है, तो कभी भावना अच्छी न होगी। कविता और कामिनी में बड़ा सादृश्य है। जिस स्त्री की नाक चिपटी, आँखें छोटी-बडी और दाँत बडे-बडे हैं, वह वसन-भूषण धारण करने और सुंदर स्वभाववाली होने पर भी मन को मुग्ध नहीं कर सकती। जिसका सुंदर सुरूप है, अंग प्रत्यंग सुगठित और सुडौल हैं, वह बुरे स्वभाव की और भूषण-वसन-हीन होने पर भी मन को एक बार अपनी ओर अवश्य आकृष्ट करेगी, पीछे उसके कुभाव के कारण भले ही निराश होना पडे। यही हाल कविता का भी है। आजकल की अधिकांश कविताओं में न भाषा का आनंद है, और न भाव का। केवल शब्दाडंबर—वह भी व्याकरण-विरुद्ध।

सज्जनो, कुछ ऐसे भी हैं, जो बेतुकी हाँकते हैं। जब तुक न मिले, और काफिया तंग हो जाय, तो बेचारे क्या करें? बेतुका काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी बनने लगा है। बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है। इसके फेर में पड़कर कवि भाव भूल जाते हैं। पर यह स्वीकार करने के लिये मैं अभी तैयार नहीं। जो स्वाभाविक कवि हैं, वे सदा भावमय रहते हैं—तुक मिलाने की चिंता उनकी भावराशि में बाधा नहीं डाल सकती। "रत्नाकरजी" कहते हैं—

"अनुप्रास कबहूँ न सुकवि की शक्ति घटावै,
वरु सच पूछो, तो नइ सूझ हिये उपजावै।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर माँहीं,
त्यागि पद्य प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखे फीके,
माँगहि विधना सों ते श्रवण मानुषी नीके॥"

मुरादाबाद के षष्ठ संयुक्तप्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के सभापति "सतसई-सहार" वाले प्रसिद्ध पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने भाषण में कहा है—"अच्छा साहब बेतुकी ही सही, पर कुछ कहिए तो। निरे शब्दाडंबर या कोरी तुकबंदी का नाम तो कविता नहीं है। कविता का प्राण जो रस है, उसकी कोई बूँद भी आपके इस प्याले में है या नहीं? आप जो कुछ बँकार रहे हैं, सो क्या पुरस्कार की प्रेरणा से शब्दों के गोले उगल रहे हैं या नासमझों की बेमानी 'वाह वा' के उभारने से यह कवित्व-प्रसव की वेदना सह रहे या सचमुच अंदरवाला कुछ कहने को बेताब कर रहा है? पिछली बात हो, तो शौक से कहिए, नहीं तो कृपा कर चुप रहिए। कविता में नक्काली से काम नहीं चलता। जो कविता चोट खाए हुए दिल से नहीं निकलती, वह स्यापे की नायन का रोना है।" इत्यादि।

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। वही कवि सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसने मानव-जाति और विश्व-ब्रह्मांड का पूर्ण रूप से निरीक्षण किया है। कवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। परंतु प्रायः आधुनिक कवि इन बातों की परवा न कर काव्य-रचना करते

हैं। इसी से वे कृतकार्य नहीं होते।

मैं कह चुका हूँ कि सत्यकवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बडी आवश्यकता है। जो मानव-जाति और विश्वब्रह्माड का निरीक्षण किए बिना काव्य-रचना करते हैं, कभी कृतकार्य नहीं होते, क्योंकि निरीक्षण के अभाव से रचना निस्सार और भाषाधिकार के बिना नीरस हो जाती है। वाल्मीकि कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपीयर, होमर, गेटे, डाँते प्रभृति महाकवियों की सफलता की कुजी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और भाषाधिकार ही है। इनकी रचनाएँ नैसर्गिक भाव से परिपूर्ण हैं। जब तक भाषा पर अधिकार और प्रकृति-निरीक्षण पूर्ण न हो, तब तक किसी को रचना के फेर में न पडना चाहिए। अध्यापक उडहाउस (E A Wodehouse) अँगरेजी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। उनकी भी यही सम्मति है। वह मदरास से निकलनेवाले 'शमा' नाम के मासिक पत्र मे लिखते हैं—"सुदर रचना का प्रयत्न कुछ दिनों तक छोड दो। जहाँ तक बने, पद्यरचना का प्रयत्न भी बिलकुल ही छोड दो और तुच्छ-से तुच्छ पदार्थ में जो तत्व गुप्त है, जिसका अस्पष्ट ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को है, और जिसे केवल सच्चा कवि ही शब्दों द्वारा प्रकट कर सकता है, उसे निकालने का अभ्यास उत्साह के साथ करो। उदाहरणार्थ—किसी वृक्ष-विशेष के सबध में (वृक्षजाति के नहीं) तब तक कल्पना करते रहो, जब तक उस शब्द का पता न लग जाय, जो उसके लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त है। किसी मित्र या परिचित व्यक्ति को ही लेकर उसके बारे में तब तक ध्यान-पूर्वक सोचते रहो, जब तक उसका सर्वांगीण वर्णन एक ही पूर्ण भाव प्रकाशक वाक्य में न कर सको। इस संबध में गद्य का

एक वाक्य पद्य के एक पद से कहीं उत्तम है, क्योंकि सत्य की खोज में इससे रुकावट नहीं पहुँच सकती।"

तात्पर्य यह कि भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण के बिना काव्य-रचना दुस्साहस-मात्र है।

मैं खड़ी बोली का विरोधी नहीं, और न व्रजभाषा को बहिष्कृत ही करने का पक्षपाती हूँ, क्योंकि दोनों ही हिंदी के अंग हैं। व्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिंदी के प्राचीन काव्यभांडार से हाथ धोना पड़ेगा। इसके सिवा इसमें जो रस, जो लालित्य, जो सौंदर्य और जो माधुर्य है, वह खड़ी बोली को अभी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ है। हमारे पूर्वाचार्यों ने संस्कृत साहित्य का सार खींचकर व्रजभाषा में भर दिया है। यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी ही अपने प्राचीन साहित्य के कारण सर्वश्रेष्ठ है। अपने कथन की पुष्टि में पुरातत्ववेत्ता परलोकवासी डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। मित्र महोदय "इंडो एरियंस" [Indo Aryans] नाम की पुस्तक में लिखते हैं—"हिंदुओं में सब से अधिक सभ्य लोगों की भाषा हिंदी है। इसके इतिहास का पता हजार वर्ष तक लगता है। तेलगू भाषा को छोड़ भारत की और सभी आधुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भांडार अधिक संपन्न तथा विस्तृत है।"

इसके सिवा एक बात और है। स्वर्गवासी सत्यनारायणजी के कथनानुसार जिस भाषा में

"बरननि को करि सकै भला तिहि भाषा कोटी,
मचलि मचलि जामें माँगी हरि माखन-रोटी।"

उसे तिरस्कृत और बहिष्कृत करना क्या उचित है? और कुछ न

महो, तो भगवान कृष्णचन्द्र के मुलाहजे से ही व्रजभाषा पर कम-से-कम गालियों की गोलियाँ तो न चलानी चाहिए।

खड़ी बोली के प्रेमी खड़ी बोली में कविता करना चाहते हैं, तो शौक से करें। उन्हें कोई रोकता नहीं, पर वे व्रजभाषावालों को क्यों कोसते-काटते हैं? क्या इसके विना खड़ी बोली खड़ी नहीं हो सकती? यदि खड़ी बोली की कविता अच्छी होगी, तो लोग उसे खुद चाव से पढ़ेंगे। अच्छी न होगी, तो क्या व्रजभाषा को बुरा भला कहने से वह अच्छी हो जायगी? दूसरों का दोष दिखाने के बदले अपना दोष दूर करना क्या उचित नहीं है? क्या मैं आशा करूँ कि मेरी विनय विफल न होगी?

कानपुर के श्रीयुत वेणीमाधव खन्नाजी ने हिंदी के कवियों को पुरस्कार देने का सिलसिला शुरू कर अच्छा काम किया है। उनका यह उद्योग प्रशंसनीय है। परंतु उनकी उदारता का दुरुपयोग होता देख दु:ख होता है। कविता के परीक्षकों को सदा स्मरण रखना चाहिए कि उपयुक्त कविताओं पर पुरस्कार प्रदान करने से ही खन्नाजी की तमन्ना पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।

शिक्षा

सज्जनो, हमारी शिक्षा का साधन क्या है, शिक्षा की शैली कैसी है, उसका परिणाम क्या है, आदि विषयों पर अब कुछ निवेदन करता हूँ। देशी भाषा ही शिक्षा का स्वाभाविक साधन है। इसी सर्ववादि-सम्मत नियम के अनुसार इँगलेंड में अँगरेजी, जर्मनी में जर्मन और जापान में जापानी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है; पर हिंदुस्तान का बाबा आदम ही निराला है। हिंदुस्थानियों की शिक्षा-दीक्षा अँगरेजी-भाषा द्वारा होती है, क्योंकि यह राजभाषा

है। राजभाषा सीखने की बडी आवश्यकता है, क्योंकि उसके बिना हम सांसारिक व्यवहार सुगमता से आजकल नहीं कर सकते, और न आधुनिक राजनीति ही समझ सकते है। पर उसके अध्ययन में जनता को समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? क्या देश में देशी भाषा का अभाव है? नहीं। फिर इस अस्वाभाविक आचरण का कारण क्या है? इसका एक-मात्र कारण स्वराज का अभाव ही है। स्वराज के बिना न शिक्षा शैली का सस्कार, और न मातृ-भाषा का उद्धार हो सकता है। अतएव साहित्यिक दृष्टि से भी स्वराज्य की अत्यधिक आवश्यकता है।

मै निवेदन कर चुका हूँ कि हमारी शिक्षा-दीक्षा अगरेजी-भाषा द्वारा होती है। अँगरेजी बडी कठिन भाषा है। इसमें अक्षरों का अभाव, वर्णविन्यास का व्यतिक्रम, और उच्चारण की उच्छृङ्खलता पूर्ण रूप से है। यदि उदाहरण-सहित इन सब बातों का वर्णन किया जाय, तो बडा पोथा बन जायगा। इसलिये सक्षेप में ही कुछ सुना देता हूँ। पहले वर्णमाला को ही लीजिए। यह अपूर्ण और क्रमहीन है। इसमें स्वाभाविकता का नाम तक नहीं है। एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पडते हैं। न तो ई का ठिकाना और न व का पता, पर A [ए] के बाद B [बी] विराज रही है। स्वर के बिना व्यजन का उच्चारण नहीं होता, यह सब कोई जानते और मानते हैं। न ई की सृष्टि हुई, और न ब की। फिर दोनों का सबध कैसे हो गया? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं? अँगरेजी वर्णमाला में ऐसी-ऐसी बहुतेरी अद्भुत बातें हैं, जिनका वर्णन करना असभव है। पर हमारे नागरी-अक्षर ऐसे नहीं हैं। वे सीधे, सादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है। उच्चारण के

अनुसार ही उनका क्रम है। ये वैज्ञानिक रीति से बने हैं, इसलिये सहज ही सीखे जा सकते हैं। पर तो भी रेवरेण्ड जे० नोल्स भारत की राष्ट्रलिपि नागरी अक्षरों के बदले रोमन को ही बनाया चाहते हैं।

अब वर्णविन्यास के व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृङ्खलता सुनिए। s, i, r = sir सर, और p, i, g = pig। ये pig, sir ही इसके नमूने हैं। C (सी) के उच्चारण में बडी आफत है। कहीं तो यह 'क' का काम देती है, और कहीं 'स' का। इस एक ही शब्द Circumference में c (सी) ने दोनों रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द के आरम्भ में सी का उच्चारण 'स'-सा और मध्य में 'क'-सा होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हमारे Calcutta में ऐसा नहीं होता है। यहाँ आदि और मध्य, दोनों जगह सी ने के का काम किया है। कलकत्ते और कानपुर में तो सी का साम्राज्य है, पर कालका और काशी पर के की ही कृपा है। नोलस [Knowles] में के (k) खासी करवट ले गया है, डबल्यु (w) डर गया और ई (e) बेचारी तो बेमौत मर गई है। यह वही नोल्स हैं, जो भारत में रोमन लिपि चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। नोल्स के नाम का रोमन में यह परिणाम है, तो उसका काम कैसा होगा, यह आप लोग स्वय सोच लें। जब इन अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता, तो इन्हें इन शब्दों में घसीटने की जरूरत ?

तात्पर्य कहने का यह कि जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे शारीरिक सगठन के पूर्णरूप से प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश-का-देश ग्रहण कर बैठा है।

राष्ट्रीयता का जैसा चिन्ह परिच्छद है, वैसे ही भाषा भी है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही होती है। भाषा की भी यही बात है। शरीर और मुख की बनावट से भाषा का गहरा संबंध है। मनुष्य-जाति का संगठन देश काल पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चालचलन एकसा नहीं—जैसा देश, वेसा वेष। भाषा भी देश के अनुसार ही बनती है। इनकी बनानेवाली प्रकृति-देवी (Nature) है। वह एक दिन में नहीं, कई युगों में देश की जलवायु के अनुकूल वेष और भाषा बना देती है। किसी की खाल खींचना उसे जान से मार डालना है। उस पर दूसरे की खाल चढाना असंभव है। एक जाति की पोशाक छीनकर दूसरे को पहना देना संभव है, पर इसका परिणाम भी वही है। भाषा के बारे में भी वही बात है। गरम मुल्कवाले ढीलाढाला, महीन कुरता पहनते और सर्द मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट। उत्तरी ध्रुव के निवासी मलमल का ढीला-ढाला कुरता पहने, तो जाडे से जकड जायँ, और सहारावासी मोटा, ऊनी कोट पहने, तो वह गरमी से घबरा जाय। हमारे स्वास्थ्य और शरीर के लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है, मानसिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा भी उतनी ही है। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन के, हमारे भावों और विचारों के *बिलकुल* विपरीत है, उसे दबाव और लालच में पडकर ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

दुधमुहें बच्चों को विदेशी भाषा पढने के लिये लाचार करना बडा अन्याय है। आजकल हमारी जैसी अवस्था है, उसमें हमें

अँगरेजी-भाषा सीखने की बड़ी जरूरत है। उसके बिना हम कुछ नहीं कर सकते। पर उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं। भाषा-तत्त्वविद् भले ही अध्ययन करें, पर सब इसके लिये परिश्रम क्यों करें? इसमें जो अच्छे विषय हैं, उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए—कुछ भाषा की बारीकियाँ नहीं। फिर क्यों सब कोई अपना समय, स्वास्थ्य और शक्ति अँगरेजी-भाषा के अध्ययन में नष्ट करते हैं? किसी भाषा के सीखने में समय लगाना उसे वृथा खोना है, भाषा का ज्ञान तो विषय के साथ-साथ होता है। जो विषय के बिना भाषा सीखते हैं, वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। हक्सले साहब की राय है कि भाषा सीखने में समय नष्ट करना अनुचित है। वह कहते हैं कि लड़कियाँ कपड़े पहनने में जैसे समय खराब करती हैं, वैसे ही लड़के भाषा सीखने में करते हैं। पर अफ़सोस! इस अभागे देश की दशा ही विचित्र है। युनिवर्सिटियाँ हमें उच्चश्रेणी की प्राचीन अँगरेजी पढ़ाने के लिये कसम खाकर बैठी हैं। नतीजा चाहे कुछ हो, पर वे जबरदस्ती सड़ी-गली चीजें हमारे गले में ठूँसेंगी। युनिवर्सिटियाँ ऐसी भाषा सिखाती हैं, जिसके न कुछ मानी हैं, और न मतलब। उससे हमारी मानसिक शक्ति पर इतना जोर पहुँचता है कि वह नाश न होती हो, तो बिगड़ जरूर जाती है। तोते की तरह हम रटाए जाते हैं, और उसी तरह हम बोलते भी हैं।

सज्जनो, भारतवासियों को अँगरेजी के वास्ते इतना श्रम न करना चाहिए। उनके लिये यह अस्वाभाविक है। शीत-प्रधान देश-वालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती। सर्दी उत्तेजित करती है, और गरमी दबाती है। सर्दी से फुर्ती आती है,

और गरमी से सुस्ती। सर्दी नसें जकड़ती है और गरमी उन्हें ढीला करती है। जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज ऊँची, तीखी और ककश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी। पट्टे की तरह नसें भी गरम मुल्कों में ढीली पड़ जाती हैं। गरम देशवालों के चमड़े और होंठ सर्द मुल्कवालों के चमड़े और होठों से मोटे होते हैं। सीना तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मजबूत और तनी होती हैं, उनकी आवाज स्वभाव से कर्कश और बेसुरी होती है, पर जिनकी नसें ढीली हैं, उनकी आवाज मीठी सुरीली और धीमी होती है। भारत न शीत-प्रधान है और न उष्ण प्रधान। यह मध्यवर्ती है। इसलिये भारतवासी सबकी नकल कर सकते हैं, पर अँगरेज लाख सर पटकने पर भी भारतवासियों की नकल नहीं कर सकते। वे तोताराम को 'टोटाराम' ही कहेंगे। पर हमें नकल करने की क्या जरूरत है? हमें तो अँगरेजी भाषा सीखने से मतलब है, जिससे सांसारिक व्यवहार चले। जो अँगरेजी-साहित्य पढ़ना चाहें, वे मजे में पढ़ सकते हैं। मगर सबको उसके लिये लाचार करना अनुचित है।

सज्जनो, अँगरेजी-भाषा सीखनेवालों के लिये शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु, अर्थ व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से सीखने की जरूरत नहीं। कानों से सुन और आँखों से देखकर सीखना चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा सिखाने का ढंग बिलकुल बेहूदा है। यहाँ ६ वर्षों में भाषा का ज्ञान होता है। वह भी अधूरा। पर ऊपर कहे ढंग से ६ महीने में ही काम बन जाता है। एक जर्मन ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिये उसका व्याकरण घोंट डाला, कोष रट डाला, स्कूल में जाकर लेकचर सुन डाला, पर फल कुछ न

हुआ। उसकी एक साल की मेहनत यों ही गई। इसके बाद वह किताबें फेंक फ्रांसीसी बालकों की संगति में जा बैठा। बस,६ महीने में ही वह फ्रांसीसी-भाषा में बातचीत करने लग गया। मदरास के परिया किसी स्कूल में पढने नहीं जाते, पर अँगरेजों के साथ रहकर मजे में अँगरेजी बोल लेते हैं। किसी देश की भाषा सीखने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा लीजिए। पीछे पुस्तकें पढ़िए। आप वह भाषा मजे मे बोलने, समझने और लिखने लगेंगे। बस, इतना ही हमे चाहिए और इतना ही दरकार भी है।

पर हमारी दयालु युनिवर्सिटियाँ यह सब क्यो सोचने लगी? उन्हे तो शिक्षा देने से मतलब है। उसका फल चाहे कुछ ही हो। इन युनिवर्सिटियों की ओर देखकर अपने बच्चों की ओर देखता हू, तो कलेजा काँप जाता है। जिस भाषा द्वारा वे शिक्षा देती है, वह दुरूह है। शिक्षा-प्रणाली भी प्राण घातिनी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढने के बदले और घट जाती है। पढनेवालों पर पुस्तकों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं—शेर होने के बदले वे गीदड हो जाते हैं। मौलिकता तो उनमें रहती ही नहीं। रहे कहाँ से ? प्रकृति-निरीक्षण का उन्हे समय ही नही मिलता। प्रकृति का ज्ञान पुस्तकों के द्वारा ही कराया जाता है। इसी से वे किताब के कीडे बन जाते हैं। स्वर्गवासी भारतेन्दु हरिश्चद्र, प० प्रतापनारायण मिश्र, प० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुद गुप्त, श्रद्धेय प० बालकृष्ण भट्ट आदि जिन स्वनामधन्य पुरुषो का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से करते हैं, वे अगर इन विश्वविद्यालयों का मुख देख लेते, तो शायद आज मुझे उनके शुभनाम लेने का अवसर हाथ न लगता। यहाँ हिंदी का प्रसग है,

इसलिये केवल हिंदीलेखकों और कवियों के ही नाम लिए हैं। विस्तार-भय से भारत के अन्यान्य भाषाभाषियों के नाम छोड़ दिए हैं। ये लोग पहली ही मंजिल से ठोकर खा लौट आए। इसी से बच गए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के सभी कृतविद्य अयोग्य हैं। यदि सौ में दो-चार योग्य हुए हों, तो उससे क्या? अधिकांश तो निकम्मे ही निकलते हैं। इसलिये कहना यह है कि जो जिस प्रांत का है, उसकी प्रारंभिक शिक्षा उसी प्रांत की भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा अँगरेजी के बदले राष्ट्रभाषा हिंदी में हो। अँगरेज़ी दूसरी भाषा के स्थान पर रहे। फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड और जापान की इतिहास जीवनचरित्र विज्ञान शिल्पकला-संबंधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो, और वे ही पढ़ाई जायँ, तो हमारे देश की, और हमारी भाषा की उन्नति हो सकती है।

काशी में हिंदू-विश्वविद्यालय को बनते देख हिंदुओं में हिम्मत हुई थी, पर उसे हिंदी हीन होते देख वे हताश हो गए। गांधीजी की आँधी आने पर भी मालवीयजी मौन ही रह गए थे। अब वहाँ शिक्षा का साधन (माध्यम ?) हिंदी होना असंभव ही है।

धन्यवाद है पंडित हृदयनाथ कुंजरू को, जिनकी चेष्टा से युक्तप्रांत की कौंसिल में मैट्रिक तक की शिक्षा देशी भाषा द्वारा देने के लिये स्कूल खोलने का निश्चय हुआ है। अवश्य ही यह अभी परीक्षार्थ है।

सज्जनो, जिस अँगरेजी-शिक्षा-दीक्षा से देश दुर्दशा-ग्रस्त होता जाता है, वह पाश्चात्य सभ्यता स्रोतस्वती का एक स्रोत-मात्र है, जिसके जल से आधुनिक भारत प्लावित हो रहा है। इस सभ्यता

के गुण-दोष जितने साधनों से यहाँ पहुँचाए और फैलाए जा रहे हैं, उनमें अंगरेजी-साहित्य ही प्रधान है। इस साहित्य के कलुषित अंश के संसर्ग से देश को बचाने की चेष्टा करना देश और जाति के शुभचिंतकों का धर्म है। कोई विदेशी यात्री ही सुदूर पश्चिम से प्लेग के कीड़े यहाँ लाया, जिनसे लाखों नहीं, करोड़ों मनुष्य प्रतिवर्ष काल के गाल में गए, और जाते हैं। क्या हमें नैतिक रोगों को उत्पन्न करनेवाले उन असंख्य कीटाणुओं की खबर है, जिन्हें विदेशी साहित्य, दृश्य और अदृश्य रूप से अपने साथ रोज ही यहाँ ला और फैला रहा है? मैं स्वीकार करता हूँ कि इसके प्रचार को रोकना दुष्कर कर्म है। किसी खास रंग या जाति के विदेशी किसी देश में आने से रोके जा सकते हैं—विदेशी वस्तुओं की आमदनी भी बात की बात में रोकी जा सकती है। पर कोई देश कभी हानिकारक साहित्य का प्रवेश निषेध करने में पूर्णरूप से सफल हो चुका है, यह सुनना बाक़ी है। क्या कानून में ऐसी ताक़त नहीं? बायस्कोप के 'फ़िल्म' जब रोके जा सकते हैं, तो पत्रों और पुस्तकों का रोका जाना क्या संभव नहीं? मैं समझता हूँ नहीं है। इसी से ऐसे साहित्य के प्रचार के नियंत्रण या निषेध की उपयोगिता और आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं, परंतु आज तक इसमें कोई कृतकार्य नहीं हो सका।

कहा गया है कि जिन पत्रों या पुस्तकों का प्रचार सरकार अपने हक़ में बुरा समझती है, उन्हें तो वह आने से रोक देती है, पर क्या इससे उसकी अभीष्ट सिद्धि हो गई? 'डेली हेरल्ड' नहीं आता, पर संवाददाता अपने पत्रों को उसके अवतरण बराबर भेजा करते हैं। दूसरे पत्र उसकी सम्मतियाँ उद्धृत किया ही

करते हैं। सभी पत्रों का आना बंद कर देना सरकार के लिये भी असंभव है। इस एक उदाहरण से आप समझ सकेंगे कि राष्ट्र की दृष्टि से किसी पत्र या पुस्तक के विचार उसके लिये अत्यंत हानिकर होने पर भी वह उसका आना रोक नहीं सकता। पहले तो उसका पता लगाना ही असंभव है। नित्य नई पुस्तकें हजारों-लाखों की संख्या में निकलती हैं। इसका निर्णय ही भला कौन कर सकता है कि किसके विचारों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यदि यह फैसला हो भी जाय, तो उन विचारों के सभी प्रवेश-मार्ग कभी बंद नहीं किये जा सकते। सच तो यह है कि यह कार्य किसी परीक्षक मंडली पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। परीक्षकों के रहते भी अश्लील-से-अश्लील 'फिल्म' दिखाए ही जा रहे हैं। दर्शकों के चरित्र पर उनका बुरा प्रभाव पड़ ही रहा है। गुण-दोष के निर्णय के लिये और विषयों की तरह लिखने-पढ़ने में भी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। परंतु साथ ही पाठकों की रुचि परिमार्जित करने का भी पूरा प्रयत्न करना होगा। पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र में मोह-मरीचिका का अभाव नहीं। इसका भयंकर परिणाम भी समझना होगा। सन्मार्गप्रदर्शन में यदि सफलता तत्काल न भी हो, तो भी उससे पीछे पैर न देना चाहिये। यह मैं इसलिये कहता हूँ कि तरह-तरह के कुसंस्कार और कुरीतियाँ, दोष और कल्मष विदेशी साहित्य के अध्ययन से धीरे धीरे हमारे जीवन में प्रवेश करते जाते हैं। यदि जीवन को उन्नत बनाना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है, तो हम साहित्य-सेवियों का भी कर्तव्य है कि जनता को विदेशी साहित्य के नीर-क्षीर की पहचान बतलावें, और यह कर्तव्य-संपादन करते समय

गीता का यह वाक्य स्मरण रखें "कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

नशे का नतीजा हाथोंहाथ मिलता है, पर तो भी वह नहीं छूटता। यदि शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले मादकों का त्याग मनुष्य के लिये इतना कठिन हो सकता है, तो जिन मादकों से मानसिक अध पात होता है, उनका तो कहना ही क्या? "टेंपरेंस सोसाइटियाँ" अपना काम बंद नहीं करतीं। फिर हम ही क्यों करें? संभव है, वर्तमान क्रिया का फल भविष्य के गर्भ में शुभ हो।

अवश्य ही कोई समझदार यह कहने का साहस या धृष्टता न करेगा कि सारा पाश्चात्य साहित्य ही कलुषित है। गुणों के बिना पाश्चात्य जातियों का यह उत्कर्ष असंभव था। उन गुणों का प्रतिबिंब उनके साहित्य-पटल पर अटल हुए बिना न रह सकता था। सज्जनो, मैं उन लोगों में नहीं, जो समझते हैं कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य काव्य-इतिहास के पठन पाठन पर ही अवलंबित है। मैं न तो विदेशी भावों का ही अंध भक्त हूँ, और न विदेशी भाषाओं का ही। मानसिक चक्षुओं से भविष्य में जितनी दूर मैं देख सकता हूँ, मुझे कोई ऐसा समय दिखाई नहीं देता, जब जनता के लिये विदेशी भाषाओं या भावों की पूजा हितकारक कही जा सके। फिर भी मैं वहाँ के साहित्य-रत्नाकर में डुबकियाँ लगा जनता के हित के लिये रत्न निकालने का प्रस्ताव करता हूँ। पर भूलकर भी यह सलाह मैं नहीं दे सकता कि जनता या उसका कोई बड़ा अंश गोताखोरी सीखे। यह काम अल्पसंख्यक विद्वानों का है। वही विदेशी साहित्य-रत्नाकर से रत्न

निकालकर मातृभाषा का भंडार भरे—वही विभिन्न तीर्थों से सलिल संग्रह कर अपने साहित्य-क्षेत्र को यथा समय और यथास्थान सिक्त किया करे।

ऐसे सभी तीर्थयात्रियों के लिये एक पथ निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता, प्रत्येक को अपना लक्ष्य और अपना मार्ग आप ही स्थिर करना होगा। उनका अपनी मातृभाषा और मातृभूमि के साथ यही कर्तव्य होगा कि वे चाहे जहाँ से लावें,—केवल शुद्ध और स्वच्छ जल लावें। वह स्रोतस्वती के बीच का हो—किनारे या पनारे का न हो। पूर्व और पश्चिम की आवश्यकताओं में जो अंतर है, उसका उन्हें सदा ध्यान रखना होगा। एक बात और है। पाश्चात्य साहित्य कहने से स्थान और समय का कुछ भी बोध नहीं होता। यद्यपि अपने राजनीतिक संबंध के कारण हमारा विशेष परिचय अंगरेजी से ही है, तथापि जानकारों का कहना है कि साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति का अभिमान कोई एक भाषा नहीं कर सकती। किपलिंग ने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी हैं, और महात्मा टालसटाय ने भी लिखी हैं। किपलिंग अँगरेज हैं, और रूसी देश से उनके अधिकांश काव्यकृति का संबंध है। पर जिन लोगों ने महात्मा टालसटाय की कहानियों का हिंदी-अनुवाद पढ़ा है, उनसे, किपलिंग का प्रत्येक पाठक कह सकता है कि जो उपकार रूसी भाषा से इस देश को पहुँचा है, वह अँगरेजी से पहुँचने का नहीं। यह दूसरी बात है कि रूसी लेखक के विचारों का रसास्वादन हमें अँगरेजी-अनुवाद के कारण ही हुआ है। तात्पर्य यह कि पाश्चात्य-साहित्य से हम केवल अँगरेजी साहित्य ही न समझें, और किपलिंग से

निराश होने पर उस साहित्य-मात्र से निराश न हो जायँ। फिर पाश्चात्य संसार में परिवर्तन भी बड़े वेग से हो रहा है। अँगरेजी में ही देखिए, पुराने और आधुनिक कवियों के सुर में कितना भेद है। अवश्य ही नए श्रीधर पाठक और नए 'रत्नाकर' को नई दिशाओं में यात्रा करनी होगी,— नए आदर्श हमारे सामने रखने होंगे।

फिर मैं स्पष्ट रूप से कह देना उचित समझता हूँ कि हमें पश्चिम से वस्तु के लाने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी उसकी विधि के लाने और अपनाने की है। हमें उसके कार्य पर उतना ध्यान न देना चाहिए, जितना उसकी कार्य-प्रणाली पर। पश्चिम को अपनी समस्याएँ हल करनी हैं, और पूर्व को अपनी, पर एक-दूसरे से उन्हें हल करने के उपायों के संबंध में बहुत-कुछ सीख सकते हैं। दोनों एक-दूसरे से ही ऐसी सहायता अनादि-काल से लेते भी आ रहे हैं। इधर सौ वर्षों में भारत ने अपने साहित्य-मंदिर का निर्माण करने में पाश्चात्य 'शिल्पसूत्रों' से बहुत कुछ लाभ उठाया है। इतिहास और विज्ञान में पाश्चात्य अनुसंधान प्रणाली का अवलंबन इस बात का प्रमाण है। इस गद्यपद्यमय काव्य की दिशा में भी उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। सामयिक पत्रों के लेखों और टिप्पणियों, आधुनिक आख्यायिकाओं और उपन्यासों, बँगला के नवीन-नवीन छन्दों और रचनाशैलियों का साँचा पश्चिम से ही इस देश में आया है। पर प्रत्येक साँचा हमारी हिंदी के काम का नहीं हो सकता। जिससे हमारे साहित्य का वास्तविक उपकार हो सकता है, उसे लाना और लोकप्रिय बनाना हमारा धर्म है।

सम्मेलन

सज्जनो, हिंदी-साहित्य की समालोचना तो हो चुकी। अब सम्मेलन का सिंहावलोकन करता हूं। यह सम्मेलन बंग, बिहार, युक्तप्रांत, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, और बंबई से विजयवैजयंती उडाता वीरभूमि पंजाब मे आ पहुँचा है। राजस्थान में राज्यस्थापन के बाद काश्मीर पर कब्जा करेगा। मदरास मे भी मोर्चाबंदी हो रही है। मौका मिलते ही वहाँ भी जा मैदान मारेगा।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदीसाहित्य-सम्मेलन से हिंदीप्रचार में बडी सहायता मिली है। युक्तप्रांत की अदालतों में नागरी-अक्षरों का जो कुछ थोडा-सा प्रचार है, और उनके कागज-पत्र नागरी में लिखे-पढ़े जाते हैं, इसका श्रेय सम्मेलन को ही है। यदि सम्मेलन स्थान-स्थान पर नागरी के लेखक नियत न करता, तो सरकारी सरकुलर यों ही पडा रह जाता। पर दुःख यह है कि सब हिंदी-भाषाभाषी वकीलों से जैसी चाहिए, वैसी सहायता नहीं मिली। इसके सिवा मदरास में हिंदीप्रचार के लिये सम्मेलन ने पूरा प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई। कई मदरासी लडकों को सम्मेलन ने छात्रवृत्ति देकर प्रयाग में हिंदीसाहित्य की शिक्षा दी, और जब वे परीक्षोत्तीर्ण हुए, तो उन्हे मदरास में हिंदीप्रचार के लिये वेतन देकर नियुक्त किया। यह सिलसिला कई वर्षों से जारी है। मदरास मे हिंदीप्रचार का कार्य अब भी चल रहा है। इसमें सम्मेलन ने मुक्तहस्त होकर व्यय किया, और कर रहा है।

प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा नाम की तीन परीक्षाएं सम्मेलन की ओर से होती हैं। उत्तमा को हिंदी का एम० ए० कहा

जाय, तो कुछ अत्युक्ति नहीं, क्योंकि मध्यमा में प्राय बी० ए० तक का कोर्स हिंदी में पढा दिया जाता है । प्रतिवर्ष सैकड़ों परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में सम्मिलित और उत्तीर्ण होते हैं। प्रयाग के सिवा भारत के प्राय सभी बडे-बडे नगरों में इसके परीक्षाकेन्द्र हैं। पर दु ख है, पजाब में अब तक एक केन्द्र भी कहीं स्थापित नहीं हुआ। मध्यमापरीक्षोत्तीर्ण "विशारद", और उत्तमा में उत्तीर्ण 'रत्न'की उपाधि पाते हैं । सम्मेलन केवल परीक्षा ही नहीं लेता, हिंदी की शिक्षा भी देता है। इसके लिये प्रयाग में हिंदी-विद्यापीठ की स्थापना हुई है।

सम्मेलन ने सुलभ पुस्तकमाला-प्रकाशनविभाग भी खोल रक्खा है, जिसमें प्राय सम्मेलन-परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित हो सस्ते मूल्य में बिकती हैं।

सम्मेलन की ओर से "सम्मेलन-पत्रिका" नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है, जो इधर कुछ दिनों से समय पर निकलने लगी है। अब उसमें साहित्य-सबधी समालोचनात्मक लेख भी रहते हैं। धन्यवाद है श्रीयुत वियोगी हरिजी को, जिन्होंने इसका श्रीगणेश किया है।

यह सब होने पर भी हिंदीसाहित्य-सेवी कहते हैं कि सम्मेलन ने साहित्य-सबधी कोई महत्वपूर्ण काय अभी तक नहीं किया है। करता कहाँ से ? अभी तो उसने बारहवें वर्ष में पाँव ही रक्खा है। अब तक तो उसने केवल बाल-सुलभ चरित्र दिखलाकर अभिभावकों, प्रेमियों और हितैषियों का मनोरजन किया है, और यही उचित भी था । बालक बाल्यकाल में खेलने-कूदने के सिवा और कुछ नहीं करते। सम्मेलन ने भी प्रचार के सिवा और कोई बड़ा काम नहीं किया । काम करने का समय तो अब आया है।

आइए, इसका उपनयन-संस्कार करें। यदि आज इसका संस्कार न होगा, तो फिर यह व्रात्य हो जायगा। इसलिए अब विलंब की आवश्यकता नहीं। शुभस्य शीघ्रम्।

सम्मेलन के नए युग का आरंभ आज से हो जाना चाहिए। हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के नाम को सार्थक और सफल बनाने के लिये पूरा प्रयत्न करना समस्त हिंदीसाहित्य-सेवियों, हिंदीसाहित्यानुरागियों और हिंदीसाहित्य-रसिकों का आज प्रधान और प्रथम कर्तव्य है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह सम्मेलन हिंदी-भाषा का "फ्रेंच एकेडेमी' (Franch Academy) बने। फ्रेंच एकेडेमी ने फ्रांसीसी भाषा का जिस प्रकार संरक्षण और नियंत्रण किया है, उसी प्रकार सम्मेलन भी हिंदीभाषा का करे।

फ्रांस की राजधानी पेरिस के कुछ साहित्य-सेवियों के मन में साहित्य चर्चा की तरंग उठी। बस, वह सप्ताह में एक बार एकत्र हो बारी-बारी से अपनी-अपनी नवीन रचना सुनाने और परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। ५-६ साल तक यही सिलसिला जारी रहा। धीरे-धीरे इसकी खबर सम्राट् तक पहुँची। अंत में, सन् १६३५ ई० में, सम्राट् की आज्ञा से फ्रेंच एकेडेमी की विधिवत् स्थापना हो गई। फिर क्या था, दिन-दूनी रात-चौगुनी इसकी उन्नति होने लगी। अब तो यह फ्रांस की एक प्रधान संस्था है। इसका उद्देश्य फ्रांसीसी भाषा का संस्कार था। फ्रांसीसी भाषा की विशुद्धता का श्रेय फ्रेंच एकेडेमी को ही है। इसी के पूरे प्रयत्न से फ्रांसीसी भाषा के दुष्ट प्रयोग और ग्राम्य दोष दूर हुए, और वह संस्कृत एवं परिमार्जित हो गई। सज्जनो, कहने का तात्पर्य यह कि सम्मेलन "फ्रेंच एकेडेमी" को आदर्श माने, पर उसकी संकीर्णता

का अनुकरण न करे, और न उसकी तरह राजकीय संस्था हो जाय। एकेडेमी ने कोई रचनात्मक कार्य न कर केवल संरक्षण और नियंत्रण ही किया, पर सम्मेलन को उदारता पूर्वक दोनों कार्य करना चाहिए।

सज्जनो, सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के समय दूर-दूर से हिंदी के विद्वान्, लेखक और कवि आते हैं, पर उनकी उपस्थिति का लाभ सम्मेलन नहीं उठाता, और न आनेवालों की ज्ञानपिपासा ही शान्त होती है। फिर इस अधिवेशन से क्या लाभ? अधिवेशन के तीनों दिन प्रस्तावों में ही न बिताकर कुछ साहित्यिक कार्य करना चाहिए। कम-से-कम एक दिन केवल साहित्य-चर्चा के लिये रहे, जिसमें विद्वान लोग विवादग्रस्त विषयों की मीमांसा करें, और वही सम्मेलन की मीमांसा समझी जाय। इसके सिवा सम्मेलन वार्षिक अधिवेशन करके ही मौन न हो जाय, बल्कि साल में १२ न सही, ६ उत्सव तो जरूर करे।

तुलसीदास, सूरदास, हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण आदि के जन्मोत्सव के अतिरिक्त होली, दिवाली, दशहरा, वसंतपंचमी आदि त्योहारों पर भी साहित्य-प्रेमियों का समारोह करना चाहिए। इससे जागृति और साहित्य की वृद्धि होती है। प्रचार से यह काम अधिक उपयुक्त और उचित प्रतीत होता है। आशा है, सम्मेलन इन सूचनाओं पर विशेष ध्यान देगा।

एक बात और है। केवल पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने से काम न चलेगा। सम्मेलन को और भी आगे बढ़ना चाहिए।

हिंदी के प्राचीन काव्यों का संग्रह टीकाटिप्पणी-सहित छापने की ओर ध्यान देना चाहिए। कैसे दुःख की बात है कि-सूर, तुलसी, बिहारी प्रभृति के ग्रंथों का एक भी सटीक संस्करण दिखलाई

नहीं देता, यहाँ तक कि तुलसीकृत रामायण का शुद्ध और क्षेपक-रहित संस्करण भी दुर्लभ है—टीकाटिप्पणी की तो बात ही अलग है। क्या सम्मेलन यह कार्य हाथ में नहीं ले सकता ? जब प्रचार के कामों में उसे हजारों की सहायता मिलती है, तो क्या इसके लिये नहीं मिलेगी ? जरूर मिलेगी।

सम्मेलन की भाषा-शैली, वर्ण-विन्यास और वाक्य-रचना आदर्श होनी चाहिए। सम्मेलन का भाषा-संबंधी क्या सिद्धांत और कर्तव्य है, यह भी स्थिर हो जाना आवश्यक है।

सम्मेलन की परीक्षाओं का पाठक्रम भी सरकारी युनिवर्सिटियों की नकल पर ही बना है। भला, प्रथमावालों के लिये गणित की क्या जरूरत है ? अल्पवयस्क बालकों के मस्तिष्क को फालतू बातों से भरने की चाल जितने जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा। बालकों की सबसे बड़ी आवश्यकता है भाषा का ज्ञान। भाषा का ज्ञान हो जाने से वे चाहे जिस क्षेत्र में जायँ, उन्हें लिखने-बोलने में शब्दाभाव की कठिनता प्रतीत न होगी। मनुष्य अपने जीवन में जिस परिमाण में भाव-प्रकाशन की क्षमता दिखा सकता है, उसी परिमाण में उसे सफलता होती है। इँगलैंड में स्कूलों की पढ़ाई की जाँच करने के लिये जो कमेटी बैठी थी, उसने उस दिन अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि सबसे अधिक ध्यान इन स्कूलों को बालकों की अँगरेजी शिक्षा पर देना चाहिए, क्योंकि अच्छे-से-अच्छे लड़के का भाषाज्ञान आज उतना पूर्ण नहीं होता, जितना २०-२५ वर्ष पहले होता था। जब इँगलैंड की यह दशा है, तो भारतवर्ष का तो कहना ही क्या है। सम्मेलन को याद रखना उचित है कि अपरिपक्व मस्तिष्क के बालकों के लिये सूरदास के

दो पदों का अर्थ जानना जितना आवश्यक और राष्ट्र के लिये हितकर है, उतना यह जानना नहीं कि १ में $\frac{3}{4}\times\frac{1}{2}$ — २ कितनी बार शामिल है।

इन्हीं कारणों से सम्मेलन के अधिकाश "विशारद" और "रत्न" हिंदी लिखने पढने मे वैसे ही कच्चे हैं, जैसे सरकारी स्कूल कॉलिजों में तालीम पाए हुए हुआ करते हैं। अतएव सम्मेलन को उचित है कि शीघ्र ही पाठक्रम का परिवर्तन कर डाले। इसके सिवा उसे अपना नाम सार्थक करने के लिये साहित्य का सचालन भी करना चाहिए। इसी में उसको शोभा है और इसी से उसकी श्रीवृद्धि और उद्देश्य-सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। यह निश्चित है।

उपसहार

प्यारे भाइयो, अब आप लोगों से भी कुछ निवेदन है। आप जानते ही हैं कि वही राष्ट्र ससार में जीवित रह सकता है, जिसका साहित्य जीवित है—जिसका साहित्य नहीं, उसकी स्थिति भी नहीं। परलोकगत राय देवीप्रसाद "पूर्ण" ने क्या ठीक कहा है—

> "अधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है,
> है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है।"

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। साहित्य-हीन राष्ट्र या जाति मुर्दे के समान है। साहित्य पर ही राष्ट्र का जीवन-मरण है। अतएव मातृभाषा के उद्धार के लिये भी पंजाबी भाइयों को उदासीनता त्यागकर कमर कसना चाहिए। माता के मदिर में भेद-भाव

नहीं है, और न पक्षपात। वहाँ जातपाँत और छूआछूत का विचार नहीं है, और न वर्णविभेद हो। वहाँ राजा,-रंक, धनी-दरिद्र—सबको समान अधिकार और समान स्वतन्त्रता है। सरस्वती की सेवा पर सब का ही समान स्वत्व है। इसलिये पंजाब के छोटे-बड़े बालक-बूढ़े, नर-नारी, अमीर-गरीब, हिंदू-मुसलमान, सिख-पार्सी और ईसाई जाति-भेद, वर्णभेद तथा व्यक्तिभेद को भूलकर जगज्जननी के पादपद्म मे पुष्पाजलि प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हो जाँय। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य हो—सभी का एक ज्ञान और एक ध्यान हो—सभी का एक स्वर और एक तान हो—सभी का एक मन और एक प्राण हो। बस, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

भाइयो, हिंदीमाता करुणा-भरी दृष्टि से पंजाब की ओर देख रही है। क्या आप लोग उसका दुःख दूर न करेंगे? अवश्य करेंगे। आप सब गुण-संपन्न हैं—सब कुछ कर सकते हैं। पर इस विषय में आपकी उदासीनता देख आश्चर्य होता है। क्या यह दुःख और लज्जा की बात नहीं कि मद्रास, गुजरात और बंबई में तो हिंदी का प्रचार हो, और पंजाब पीछे रहे? अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अभी समय है। आइए, हिंदी के लिये तन-मन-धन अर्पण करने की प्रतिज्ञा कीजिए।

बहनो, आओ तुम भी सहायता करो। यह मैं जानता हूँ कि आजकल पंजाब में जो कुछ थोड़ी-सी हिंदी की चर्चा है, उसमें तुम्हारा भी हाथ है। पर इतने से ही संतोष कर लेना उचित नहीं। और भी कुछ करो। भावी संतान की शिक्षा-दीक्षा तुम्हारे

हो ऊपर है । तुम उन्हें चाहे जैसा बना सकती हो । जहाँ तक बने, विदेशी भाव और भाषा की छूत से उन्हें बचपन से बचाओ । हिंदी का प्रेम उनमें जगाओ—स्वयं पढ़ो, और उन्हें पढ़ाओ ।

प्यारे नवयुवको, तुमसे भी कुछ कहना है। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है। इसी से तुम से कहता हूँ। पंजाब की लज्जा तुम्हारे हाथ है। पंजाब में हिंदी का प्रचार जैसा चाहिए, वैसा अब तक नहीं हुआ है। यह पंजाब के लिये बड़े कलंक की बात है। तुम चाहो, तो इस कलंक को शीघ्र दूर कर सकते हो। मातृभाषा राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है। इससे विमुख मत हो। उठो—कमर कसो। इसकी सेवा में प्राण भी जाय, तो परवा न करो। सिंह होकर शृगाल बनने की चेष्टा मत करो। सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया ? उसके लिये न दरबार हुआ, और न जुलूस निकला, पर वह मृगराज कहलाता है। सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है। तुम भी माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भांडार ज्ञान विज्ञान से भर दो। और क्या क्या करना है, वह भी सुन लो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे हिंदी द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी अँगरेजी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी साहित्य दिन दिन उन्नत होता जाता है। बंगाली, गुजराती और मरहठों ने भी यही करके अपने-अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है, और कर रहे हैं। तुम्हें भी यही करना चाहिए।

(२) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने एम० ए० परीक्षा में बँगला, हिंदी आदि देशी भाषाओं को स्थान दिया है, उसी प्रकार पंजाब-विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में भी हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर, कलकत्ताहाईकोर्ट के जज सर आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवडा-साहित्यसम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बंबई, मदरास, पंजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम० ए० की परीक्षा चलानी होगी। केवल बंगाल में चलाने से पारस्परिक फल Reciprocal की संभावना बहुत थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमें केवल एम० ए० की ही परीक्षा में हिंदी को स्थान न मिले, बल्कि सब परीक्षाओं में ही हिंदी का बोलबाला रहे।

(३) हिंदी भाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तकालय वाचनालय खोले जायँ। आरंभिक शिक्षा हिंदी में दी जाय, और नगर-नगर और गाँव-गाँव में विद्यापीठ खोले जायँ।

(४) अदालतों में नागरी अक्षर और सरल हिंदी जारी हो, जो सबकी समझ में आसानी से आ जाय।

(५) बहीखाते नागरी अक्षरों में लिखे जाँय, जिससे लिखने-पढ़ने में सुबीता हो।

(६) आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभाओं और प्रांतीय परिषदों में हिंदीभाषा का व्यवहार तो होता ही है। इसके प्रचार की ओर भी इन्हें ध्यान देना चाहिए।

(७) हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं का पूर्ण प्रचार हो, जिसमें पजाबी बड़ी सख्या में परीक्षाओं में प्रतिवर्ष समिलित हुआ करें।

(८) अँगरेजी पढ़े लोगों को आपस में सदा हिंदी बोलना और हिंदी में ही पत्र-व्यवहार करना चाहिए। अपनी भाषा के रहते दूसरी भाषा से काम लेना बड़ी ही लज्जा की बात है।

(९) बिहार, युक्तप्रात और मध्यप्रदेश मे जिस प्रकार प्रातीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन स्थापित हो अपने-अपने प्रात में हिंदी का प्रचार और उपकार कर रहे हैं, उसी प्रकार पजाब मे भी प्रातीय सम्मेलन की स्थापना होनी चाहिए।

सज्जनो, यह कोई असभव काम नहीं है। यदि हो भी, तो पुरुषार्थ से उसे समव बना देना हमारा धर्म है। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खभे से नृसिंह भगवान का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनूमानजी का समुद्र लाँघ जाना वर्णित है, उस देश के निवासियों के लिये असंभव या असाध्य कुछ नहीं है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत प्रभृति जिनके आदर्श ग्रथ,—सीता, सावित्री, अरुधती, लोपामुद्रा जिनकी आदर्श सती नारियाँ,—राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, शिवि, दधीचि, भीष्म, अर्जुन जिनके आदर्श पुरुष,—भरत, लक्ष्मण, भीम, जिनके आदर्श भ्राता हैं, उन्हे किस बात का अभाव है? उत्साह से उठिए और राष्ट्रभाषा हिंदी का हित-साधन कीजिए, जिससे स्वराज्य का सुमार्ग सुगम हो जाय।

सज्जनो, भाषण समाप्त करने के पहले यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि आप लोगों ने आज जो सम्मान और स्वागत किया, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक और साहित्य सेवी का है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। आपकी इस कृपा और दया के लिये वारवार धन्यवाद दे परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग सरस्वती-सेवकों और हिंदीसाहित्य-सेवियों का सम्मान और स्वागत सदैव इसी तरह किया करें।

सज्जनो, पहली वार पजाब में जब सम्मेलन निमत्रित हुआ था, तब मैंने पजाबी भाइयों के लिये कुछ पद्य-रचना की थी। दैव-दुर्विपाक से उस समय सम्मेलन पजाब में न पहुँच सका। वस, मेरी लालसा पर भी पाला पड गया। अखिलेश्वर अतर्यामी के असीम अनुग्रह से आज यह आनदमय अवसर—सुखमय सुंदर शुभ समय—मगलमय मधुर मुहूर्त मिल गया है। वह पुराना पद्य पढ भाषण समाप्त करता हूँ। पूर्ण आशा है, प्यारे पजाबनिवासी मेरी प्रार्थना पूरी करने में कभी पीछे पैर न देंगे।

भक्तिसहित निज इष्टदेव कौ करि आराधन,
उठो, उठौ प्रिय-बंधु करौ हिंदी-हितसाधन।
हम हिंदी के पुत्र हमारी हिंदी माता,
हिंदू-हिंदी-हिंद नाम कौ निरखौ नाता।
हिंदू हिंदी त्यागि बनत जो इ गलिश-दासा,
सो निज हाथन करत आप है अपनो नासा।
कुल-मरजादा लखौ और निज रूप निहारौ,
कटि कसिकै बस उठौ, वेगि हिम्मत मत हारौ।

धन बल-गौरव मान-सुजस सब भए तिरोहित,
आरजकुल की गरिमा केवल अजहुँ प्रकाशित।
आर्यबंस-संतान अजहुँ हमलोग कहावत,
आर्यबंस को रक्त अजहुँ नस-नस में धावत।
वही वेद-उपनिषद्, वही सब ग्रंथ पुरातन,
अजहुँ वही षडदर्शन, जापै मोहित सब जन।
वही विंध्य-गिरिराज, वही हिमसैल सुहावन,
वही गंग औ जमुन, वही सरजू-नद पावन।
पृथिवी वही पवित्र, वही नभमंडल तारे,
फिर हम सब क्यों रहैं मौन ह्वै मन को मारे
करि करि नव उत्साह उठौ सब हिंदीभाषी,
हिंदी कौं अपनाय मिटावौ दुख की रासी।
बहुत दिनन लौं भूले-भटके, अब निज भूलौ,
करि त्रिशंकु की नकल बीच में मत अब झूलौ।
खड़ी-पड़ी औ अड़ी-गड़ी बोलिनकौ रगरौ,
करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ।
हिंदू-आरज नामन कौ झगरौ मत ठानौ,
जगनाथ की करी भला इतनी तो मानौ।
नाम माहिं कछु नाहिं, काम करिकै दिखरावौ,
हिंदी को परचार यहाँ पै तुरत करावौ।
वीरभूमि पंजाब मोहिं हिंदी है आई,
पंजाबिन कौ उचित अवस्य बाकी सेवकाई।
भए उपस्थित आज यहाँ पै जो सब भाई;
करैं प्रतिज्ञा अटल यही निज भुजा उठाई।

सज्जनो, भाषण समाप्त करने के पहले यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि आप लोगों ने आज जो सम्मान और स्वागत किया, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक और साहित्य सेवी का है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ । आपकी इस कृपा और दया के लिये वारवार धन्यवाद दे परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग सरस्वती-सेवकों और हिंदीसाहित्य-सेवियों का सम्मान और स्वागत सदैव इसी तरह किया करें।

सज्जनो, पहली वार पजाब में जब सम्मेलन निमंत्रित हुआ था, तब मैंने पजाबी भाइयों के लिये कुछ पद्य-रचना की थी। दैव-दुर्विपाक से उस समय सम्मेलन पजाब में न पहुँच सका। बस, मेरी लालसा पर भी पाला पड गया । अखिलेश्वर अतर्यामी के असीम अनुग्रह से आज यह आनदमय अवसर—सुखमय सुंदर शुभ समय—मगलमय मधुर मुहूर्त मिल गया है । वह पुराना पद्य पढ भाषण समाप्त करता हूँ । पूर्ण आशा है, प्यारे पजाबनिवासी मेरी प्रार्थना पूरी करने मे कभी पीछे पैर न देंगे।

भक्तिसहित निज इष्टदेव कौ करि आराधन,
उठौ, उठौ प्रिय-बंधु करौ हिंदी-हितसाधन।
हम हिंदी के पुत्र हमारी हिंदी माता,
हिंदू-हिंदी-हिंद नाम कौ निरखौ नाता।
हिंदू हिंदी त्यागि बनत जो इ गलिस-दासा,
सो निज हायन करत आप ही अपनो नासा।
कुल-मरजादा लखौ और निज रूप निहारौ,
कटि कसिकै बस उठौ, बेगि हिम्मत मत हारौ।

हिंदी में हम लिखैं पढ़ैं, हिंदी ही बोलैं,
नगर-नगर में हिंदी के विद्यालय खोलैं।
हिंदी के हितचिंतन में नित ही चित देहैं,
भूलि कबहुँ नहिं इंगलिश को हम नामहुँ लैहैं।
हिंदी की अब तन-मन-धन सों सेवा करिहैं,
विघ्न, विपद औ बाधा सौं हम नेकु न डरिहैं।
यह पन पूरो करे, सदा माधव मंगलमय,
हमहुँ कहैं हिंदी, जय, हिंदी, जय, हिंदी, जय।